आधुनिक हिन्दी और तेलुगु साहित्य में आलोचना के विभिन्न सिद्धांतों का विकास

हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद
पीएच. डी. उपाधि के लिए
प्रस्तुत
शोध–प्रबन्ध

1992

प्रस्तुतकर्त्री
शकीला ख़ानम
एम. ए., एम. फिल.

निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष
प्रोफेसर शशि मुदिराज
डी. लिट्.

हिन्दी विभाग
हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद–500 134

THE UNIVERSITY OF HYDERABAD

(A Central University, established in 1974 by an Act of the Parliament)

CENTRAL UNIVERSITY P. O., HYDERABAD-500 134.

·HASHI MUDIRAJ D.Litt.

PARTMENT OF HINDI

OF HUMANITIES.

TELEX : 425-2050

PHONES : 253901, 902

Ext. 3450

Residence :

Faculty Qr. No. B-11,

Central University Campus

Hyderabad-500 134.

Date :

CERTIFICATE

This is to certiy that **Mrs. SHAKEELA KHANAM,** has worked under my supervision for her Ph.D thesis entitled **'AADHUNIK HINDI AUR TELUGU SAHITYA MEIN AALOCHANA KE VIBHINNA SIDDHANTON KA VIKAS'** at the University of Hyderabad. This thesis is represents her independent work and does not constitute part of any material submitted for any degree here or elsewhere.

12/10/92

(SHASHI MUDIRAJ)

Supervisor

Prof. & Head, Dept. of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

HYDERABAD-500 134

Dean,

School of Humanities,

University of Hyderabad,

HYDERABAD-500 134.

13.10.92

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled **'AADHUNIK HINDI AUR TELUGU SAHITYA MEIN AALOCHANA KE VIBHINNA SIDDHANTON KA VIKAS'** has been done by me under the supervision of Professor Shashi Mudiraj, Head, Department of Hindi, University of Hyderabad, for the award of Ph.D. degree and is the result of my own efforts. It has not been submitted for any degree or diploma in any other university.

Place: Hyderabad.

Date: 12-10-1992.

(SHAKEELA KHANAM)

भूमिका

आज तक भारतीय साहित्य के विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों का जो तुलनात्मक अध्ययन हुआ उसमें अधिकांशतः भारतीय साहित्य की एकता के स्वरूप को प्रतिपादित किया गया । आज तक जो भी तुलनात्मक अध्ययन हिंदी और तेलुगु के संदर्भ में किये गये हैं, उनमें आधुनिक हिंदी और तेलुगु की आलोचना के संदर्भ में शोध नहीं हुआ है । अतः मैंने पी॰एच॰डी॰ शोधकार्य के लिए "आधुनिक हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना के विभिन्न सिद्धांतों का विकास" नामक विषय लिया है । इस विषय से इस तथ्य का निर्धारण हो सकता है कि आधुनिक हिंदी और तेलुगु साहित्यिक आलोचना पर संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का प्रभाव कहाँ तक रहा है, उनके माध्यम से दोनों साहित्यों में किन - किन नवीन आलोचना - सिद्धांतों का विकास हुआ है, दोनों साहित्यों में आलोचना सिद्धांतों के विकास में कौन-कौन से साम्य और वैषम्य हैं, हिंदी और तेलुगु की आलोचना का स्तर क्या है ? आधुनिक हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना एक स्वतंत्र और व्यवस्थित विधा के रूप में विकसित हुई । भारतीय आधुनिक युग की समान प्रवृत्तियों और विकासेतिहास के कारण लगभग सभी भारतीयभाषाओं के आधुनिक युगीन साहित्य की कुछ प्रवृत्तियाँ समानान्तर विकसित हैं । हिंदी और तेलुगु साहित्य में भी प्रवृत्तियों का विकास लगभग समान दिखाई देता है । अतएव इन प्रवृत्तियों और विधाओं की व्याख्या, समीक्षा और मूल्यांकन करने की

प्रक्रिया में आलोचना के सिद्धांतों का विकास हुआ है । इन सिद्धांतों के स्रोत भी समान हैं । हिन्दी और तेलुगु दोनों में आलोचना सिद्धांत संस्कृत काव्य-शास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र से प्रभाव और प्रेरणा सूत्र ग्रहण करते रहे हैं । हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना की प्रवृत्तियों के विकास का तुलनात्मक परिशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतेन्दु युग जिसे हिंदी आलोचना का प्रवर्तन काल समझा जाता है इसमें युग - प्रवर्तक आलोचक की दृष्टि से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम काव्य की आत्मा पर दृष्टिपात करते हुए रसको अपने चिन्तन में प्रमुख स्थान दिया है और उसकी अतीन्द्रियता एवं अलौकिकता से लोगों को भिज्ञ कराया है । इनके साथ - साथ प्रेमघन, बाल-कृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री और बालमुकुन्द गुप्त आदि आलोचकों ने इन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण किया । भारतेन्दु कालीन आलोचना कई दृष्टियों से यूरोप की पुनर्जागरण - कालीन आलोचना के समकक्ष सिद्ध होती है । यूरोप में पुनर्जागरण - काल की आलोचना के पीछे यूनानी और मध्यकालीन आलोचना की पृष्ठभूमि थी, तो भारत में भारतेन्दु कालीन आलोचना के पीछे संस्कृत काव्यशास्त्र, रीतिकालीन विचारधारा और यूरो-पीय आलोचना के प्रेरक तत्व थे । यूरोप की पुनर्जागरण कालीन आलोचना का विकास हिंदी में भारतेन्दु - काल के सदृश रहा ।

आलोचना के सिद्धांत - निर्माण के लिए जिस तर्क, कर्कश, खण्डन - मण्डन की शैली की आवश्यकता होती है, उसकीपूर्ति "द्विवेदी युगीन" गद्य-साहित्य के विकास से संभव हुई और साहित्य चिन्तन नवीन दिशा की ओर उन्मुख हुआ । इस काल में महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र आदि आलोचकों ने रस, रीति,

गुण, अलंकार और परंपरा दर्शनवाद आदि सिद्धांतों की आलोचना की है। वस्तुतः पाश्चात्य परंपरादर्शनवादी युग में एवं द्विवेदी युग की मान्यताओं में साम्य दृष्टिगोचर होता है। शास्त्रीयता के प्रति विशिष्ट आग्रह, रीतिकालीन आचार्यत्व के अनुगमन की प्रवृत्ति, आदर्श अहं का भाव एवं प्रभाविव्यंजक, निर्णयात्मक एवं तुलनात्मक आलोचना का आविर्भाव इस काल के आलोचनात्मक मानदण्ड थे। इसी युग में आलोचना के सूत्रों एवं मान्यताओं के आधार पर आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी का प्रवेश हुआ। आ॰रामचन्द्र शुक्ल ने रस सिद्धांत में रसानुभूति की अभिनव व्याख्या द्वारा इसका प्रसार एवं विकास किया। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर साहित्य सिद्धांतों के विरोध द्वारा उन्होंने साहित्य और जीवन का अन्योन्याश्रित - संबंध स्थापित करने का प्रयास किया तथा पाश्चात्य एवं पौरास्त्य सिद्धांतों के साथ ही नवीन एवं प्राचीन काव्य सिद्धांतों के समन्वय द्वारा उन्होंने आलोचना का मार्गदर्शन किया। शुक्ल परम्परा के अन्य आलोचकों में आ॰गुलाब राय, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा तथा लक्ष्मीनारायण सुधांशु के नाम विशेष रूपसेउल्लेखनीय है।

छायावादी आलोचकों के अंतर्गत श्री नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि विशेष रूप में आते हैं जिन्होंने स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, मानवतावाद, बिंबवाद, प्रतीकवाद तथा रहस्यवाद आदि के माध्यम से नवीन आलोचना सिद्धांतों का विकास किया था। इसके बाद मार्क्सवाद से प्रभावित होकर डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह "चौहान" प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डा० नामवर सिंह आदि आलोचकों ने प्रगतिवादी आलोचना का रूप निर्मित किया। इसके अंतर्गत प्रगतिवादी सिद्धांत जैसे मार्क्सवाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद, समाजवाद, आदि नवीन आलोचनात्मक सिद्धांतों की व्याख्या की गई। इसी काल में डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी जैसे मनोविश्लेषणवादी आलोचक हुए जिन पर फ्रायड, युंग जैसे पाश्चात्य

आलोचकों का प्रभाव रहा । अज्ञेय, धर्मवीर भारती जैसे आलोचकों को भी आधुनिक हिन्दी साहित्य में लिया जा सकता है जिनके कारण आलोचना साहित्य में मनोविश्लेषण और जुगुप्सित यथार्थ के प्रति विशेष दृष्टिकोण के कारण इनके चिन्तन में कुछ परंपरा विरोधी तत्वों का आविर्भाव हुआ ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में आलोचना के सिद्धान्त एक आन्दोलन के रूप में उद्भूत हुए । इस आन्दोलन के प्रवर्तक हैं कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु जी (1848-1919) । इनके युग को आलोचना के क्षेत्र में विकास युग माना जाता है। इस युग में जूलूरि अप्पय्या, गरिमेल्ल वेंकय्या, पैडिपाटि वेंकट नरसु, मुलपाक बुच्चय्या शास्त्री, कावलि सोदरलु, मल्लपल्लि मल्लिकार्जुन शास्त्री आदि के द्वारा काव्य की व्याख्या अक्षर रूप में विकसित हुई । उपर्युक्त सभी आलोचक सी•पी•ब्रौन से प्रभावित हुए हैं। सन् 1880 ई से 1951 ई तक के युग को काव्यानुशीलन युग कहा जाता है। इस युग के प्रवर्तक हैं कट्टमंचि रामलिंगारेड्डी । कट्टमंचि पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हुए जिसे तेलुगु में "काल्पनिकोद्यमम्" कहते हैं। आलोचना में स्वेच्छा, सृजनात्मकता, कविता का तत्वाविवेचन आदि इस आन्दोलन या वाद के प्रमुख लक्षण थे । कट्टमंचि का ग्रन्थ "कवित्वतत्व विचारमु" इनके लक्षणों के लिए एक प्रतीक के रूप में ठहरा । इन्होंने साहित्य में "भावना शक्ति" को प्रधानता दी । यह "भावनाशक्ति" विलियम वर्ड्सवर्थ के इमैजिनेशन के अति निकट है। कालरिड्ज का प्रभाव भी इन आलोचकों पर था । कट्टमंचि ने अपनी आलोचना में "रस" "रसाभास" शब्दों का प्रयोग किया जो पाश्चात्यों के "इमोटिव एक्सपीरियन्स" से संबंधित है। इसके अतिरिक्त इस युग में आलोचक सी•शैली, एड्गर एलन पो और कीट्स से प्रभावित हुए थे, वे हैं राल्लपल्लि अनन्त कृष्णशर्मा (1893-1979) और दुव्वूरी रामिरेड्डी इन्होंने अंग्रेजी के

"लिटरेरी एस्थिटिक्स" को साहित्य सौंदर्य मीमांसा" नामक नये आलोचना सिद्धान्त के रूप में आधुनिक तेलुगु साहित्य में लाने का यत्न किया ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य की आलोचना का तीसरा विकसित युग है काव्यशिल्पानुशीलन युग । इस युग के प्रवर्तक हैं श्री विश्वनाथ सत्यनारायण सन् 1850 ई॰ से 1950 ई॰ तक अर्थात् एक शताब्दी तक जो साहित्यक आलोचना हुई थी तेलुगु में उसके प्रयोक्ता के रूप में श्री विश्वनाथ जी रहे। पाश्चात्य आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड वाल्टर पेटर, टी॰एस॰इलियट,आई॰ए॰रिचर्ड्स से विश्वनाथ जी प्रभावित रहे । इन्होंने आधुनिक तेलुगु साहित्य के अनेक आलोचना सिद्धांतों की चर्चा करतेहुए कई आलोचनाग्रंथ लिखे ।

चौथा युग समन्वय युग {सन् 1963 ई - 1970 ई तक} है । इस युग में सृजनात्मक आलोचना के परिप्रेक्ष्य में समन्वयात्मक और विश्लेषणात्मक आलोचना का महत्व अधिक था । इस युग के आलोचकों के रूप में पिंगलि लक्ष्मीकांतम्, जी॰वी॰कृष्णाराव, डॉ0 सी नारायण रेड्डी तथा आर॰एस॰सुदर्शनम् का नाम लिया जाता है । इन्होंने भारतीय आलोचना के सिद्धांत और पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन किया । प्रथम तीन युगों में तेलुगु साहित्य की आलोचना अनुभूति के रूप में थी लेकिन समन्वय युग में वह विचार के स्तर पर पहुँच गयी।

अंतिम युग है समीक्षा युग जिसमें मार्क्सवादी आलोचना का अत्यधिक प्रभाव रहा है, वह सन् 1970 ई से शुरू होता है । इस युग के अंतर्गत श्री-श्री, कोड्वटिगंटि कुटुंबराव, कुंदुर्ति आंजनेयुलु आदि का नाम लिया जाता है । श्री-श्री ने "अभ्युदयवाद" नाम से एक आन्दोलन के रूप में मार्क्सिज़्म को अपनाया था । कुंदुर्ति ने 'मार्क्सिज़म्' द्वारा "सामाजिक चेतना" {सामाजिक स्पृह} को

अपनाकर मुक्तछन्द (वचन) कविता प्रक्रिया के विकास के लिए अत्यधिक परिश्रम किया। इसी युग के अंतर्गत प्रतीकवाद नाम से नए आलोचना - सिद्धांत का जन्म हुआ। इस सिद्धांत के उदाहरण रूप में श्री गुट्रूरु शेषेन्द्र शर्मा को लिया जाता है।

इन आलोचकों के अतिरिक्त आधुनिक तेलुगु साहित्य के आलोचना के सिद्धांतों के विकास में कई लेखकों और कवियों का भी योगदान रहा है। इनमें गुरजाड अप्पाराव, रायप्रोलु सुब्बाराव, देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री, गोपीचन्द, बुच्चिबाबु आदि का नाम लिया जाता है। आधुनिक तेलुगु साहित्य में रस सिद्धांत को लेकर आधुनिक आलोचना हुई थी। हिंदी साहित्य में शुक्ल जी के समान देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री जी और जी•वी•सुब्रमण्यम ने इस रस सिद्धांत की नवीन व्याख्या की थी। इस प्रकार आधुनिक तेलुगु साहित्य के आलोचना के सिद्धांतों का विकास हुआ।

अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत शोध विषय को इन आठ अध्यायों में विभाजित किया जा सकता है, वे हैं - प्रथम अध्याय - हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना : परिभाषाएं और स्वरूप - विश्लेषण, द्वितीय अध्याय - हिंदी में भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास, तृतीय अध्याय - तेलुगु में भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास, चतुर्थ अध्याय - हिंदी पाश्चात्य काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास, पंचम अध्याय - तेलुगु में पाश्चात्य काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास, षष्ट अध्याय - आधुनिक हिंदी आलोचना का सत्व: सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में, सप्तम अध्याय - आधुनिक तेलुगु आलोचना का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में। इस अध्ययन योजना में मेरा लक्ष्य यही रहा है कि हिंदी और तेलुगु साहित्यों के माध्यम से तुलनात्मक शोध और आलोचना की प्रविधि के विषय में, उसका सत्व निरूपित किया जा सके।

अंत में, मैं उन सभी विद्वानों एवं श्रेयोभिलाषियों के प्रति आभार

ज्ञापित करती हूँ जिनसे मुझे शोधक्रम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग मिला है । इस क्रम में, मैं सर्वप्रथम केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद के हिंदी विभाग की विभागाध्यक्षा एवं मेरी शोध निर्देशिका, प्रोफ़ेसर शशि मुदिराज जी का नाम लेनाचाहूँगी । मैं अति भाग्यशालिनी हूँ कि मुझे डा0 शशि मुदिराज जी के निर्देशन में काम करने का शुभ अवसर मिला, जिनकी सतत प्रेरणा और निरंतर मार्गदर्शन के साथ यह कठिन शोध कार्य पूर्ण हुआ है । शोधावधि में आपके साथ सुदीर्घ सम्पर्क में रहकर मुझे निम्नलिखित शेर की सत्यता का वास्तव में एहसास हुआ :

"जिनसे मिलकर जिन्दगी से इश्क हो जाये
ऐसे लोग शायद आपने न देखे हों मगर होते तो हैं ।"

मेरे इस शोध प्रबंध के विषय में मेरी माता जी श्रीमती अमीरुन्निसा बेगम साहिबा और मेरे पतिदेव श्री अब्दुल हमीद ख़ान जी के प्रति बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने न केवल इस कार्य के लिये मुझे अत्यंत प्रोत्साहन, प्रेरणा एवं सहयोग दिया बल्कि पारिवारिक दायित्वों एवं चिंता से मुझे हमेशा मुक्त रखकर, पढ़ने - लिखने की ओर प्रेरित किया है । मेरे श्रेयोभिलाषी डा0 यशवंत जाधव जी विभागाध्यक्ष (हिंदी), डा0 बी॰आर॰अम्बेडकर विश्वविद्यालय और श्रीमती एवं श्री श्रुतिकांत भारती जी के प्रोत्साहन के प्रति मैं शब्दों में कृतज्ञता प्रकट नहीं कर सकती क्योंकि शब्द सीमित होते हैं और मेरा कृतज्ञता भाव असीमित है ।

इन महानुभावों के अलावा जिन विद्वानों, गुरुजनों, अभिभावक तुल्य बुजुर्गों एवं मित्रों का आशीर्वाद एवं स्नेह मुझे हमेशा से प्राप्त होता रहा है उनकी भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

पुन: एक बार मैं उन तमाम रचनाकारों एवं आलोचकों की हृदय से आभारी हूं, जिनके सुचिंतित लेखन के अध्ययन से अपने शोध - विषय के संदर्भ में, मेरी समझ थोड़ी विकसित हो सकी है ।

शकीला खानम

(शकीला खानम)

विषय सूची

			पृ सं
प्रथम अध्याय		हिन्दी और तेलुगु साहित्य में आलोचना : परिभाषाएं और स्वरूप विश्लेषण	12 - 35
	1.	आलोचना की परिभाषा	
		अ. हिन्दी	
		ब. तेलुगु	
	2.	हिन्दी में आलोचना का उद्भव और विकास	
	3.	तेलुगु में आलोचना का उद्भव और विकास	
द्वितीय अध्याय		हिन्दी में भारतीय [संस्कृत] काव्य शास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास	36 - 98
	1.	रस सिद्धांत और उसका विकास	
	2.	अलंकार सिद्धांत और उसका विकास	
	3.	रीति सिद्धांत और उसका विकास	
	4.	ध्वनि सिद्धांत और उसका विकास	
	5.	औचित्य सिद्धांत और उसका विकास	
	6.	वक्रोक्ति सिद्धांत और उसका विकास	
तृतीय अध्याय		तेलुगु में भारतीय [संस्कृत] काव्य-शास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास	99 - 124
	1.	रस सिद्धांत का विकास	
	2.	अलंकार सिद्धांत का विकास	
	3.	रीति सिद्धांत का विकास	

पृ सं

4. ध्वनि सिद्धांत का विकास
5. औचित्य सिद्धांत का विकास
6. वक्रोक्ति सिद्धांत का विकास

चतुर्थ अध्याय — हिन्दी में पाश्चात्य काव्य-शास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास — 125-165

अ. 1. प्लेटो
2. अरस्तू
3. लोंजाइनस
4. होरेस
5. दांते

आ. 1. क्रोचे का अभिव्यंजनावाद यथार्थवादी सिद्धांत और उसका विकास
2. मार्क्सवाद और उसका विकास
3. मानवतावाद और उसका विकास
4. बिम्बवाद और उसका विकास
5. प्रतीकवाद और उसका विकास

पंचम अध्याय — तेलुगु में पाश्चात्य काव्य शास्त्र से से गृहीत सिद्धांतों का विकास — 166-192

अ. आधुनिक तेलुगु साहित्य पर पाश्चात्य-आलोचना का प्रभाव

आ. 1. काल्पनिकवाद का विकास
2. हेतुवाद का विकास
3. अभ्युदयवाद का विकास
4. अस्तित्ववाद का विकास
5. अनुभूतिवाद का विकास
6. विप्लववाद का विकास

		पृ सं
षष्ठ अध्याय	आधुनिक हिन्दी आलोचना का का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में	195-220
सप्तम अध्याय	आधुनिक तेलुगु आलोचना का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में	221-239
अष्टम अध्याय	उपसंहार	240-259

सहायक ग्रन्थ सूची 260-275

1. हिन्दी ग्रन्थ सूची
2. तेलुगु ग्रन्थ सूची
3. हिन्दी-पत्रिकायें
4. तेलुगु-पत्रिकायें

=-=-=-=-=

अध्याय -1

हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना : परिभाषाएं और स्वरूप -विश्लेषण

अध्याय -1

हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना : परिभाषाएं और स्वरूप - विश्लेषण

आलोचना की परिभाषा :

(अ) हिंदी :

आधुनिक हिंदी साहित्य में रचनात्मक साहित्य के विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन के लिए समीक्षा, आलोचना, समालोचना, साहित्यालोचन आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग हो रहा है । यद्यपि ये शब्द समानार्थी रूप में प्रचलित हैं किन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से इनमें भी परस्पर अन्तर है ।

उपर्युक्त शब्दों में यदि सबसे पहले विचार करें तो यह "समीक्षा" शब्द उन अन्य शब्दों की तुलना में संस्कृत साहित्य में अति प्राचीन है । संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है । उदाहरण के लिए आत्म विद्या मीमांसा, किसी वस्तु, पदार्थ या कृति के देखने या समझने आदि रूपों में "समीक्षा" शब्द को लिया गया है । हिंदी में "समीक्षा" शब्द से प्राय: वही

अभिप्राय ग्रहण किया जाता है जो आलोचना से है । क्योंकि "समीक्षाशास्त्र", "समीक्षालोक", "नयी समीक्षा", "हिन्दी नव्य समीक्षा", "नयी समीक्षा - नये संदर्भ" आदि ग्रंथों का नामकरण ही इसका द्योतक है । इसी को अंग्रेजी में Review कहा जाता है ।

लेकिन आधुनिक दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टिकोण से साहित्यिक कृतियों के विवेचन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन के लिए "आलोचना" शब्द का प्रचलन अधिक है । "आलोचना" शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का सूक्ष्म दृष्टि से अन्वीक्षण करना । साहित्य के संदर्भ में आलोचना का अभिप्रेत है साहित्यिक कृति के वस्तुगत सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य एवं शैलीगत सौन्दर्य का विवेचन करना । प्रारंभ में आलोचना का कार्य किसी रचना के छिद्रान्वेषण तक सीमित था और आज भी सामान्यत: जीवन में "क्यों किसी की आलोचना" करते हो जैसे कथन से यही अभिप्राय ग्रहण किया जाता है । कालान्तर में कृति के गुणों का समावेश भी आलोचना का उद्देश्य हुआ । द्विवेदी युग तक की आलोचना गुण - दोष प्रतिपादन की प्रवृत्ति की द्योतक है । इसी आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से हिंदी आलोचना की परिभाषा सर्वप्रथम बाबू श्याम सुन्दर दास ने प्रस्तुत की --"साहित्य के क्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है ।"[1] लेकिन आज के युग में आलोचना का अर्थ और परिभाषा विवेचन, विश्लेषण, गुण - दोष तक ही सीमित नहीं बल्कि इनके साथ-साथ कृति के अन्तर्निहित तत्वों से परिचित कराना, भावों एवं विचारों का परिष्कार एवं परिमार्जन कर साहित्य का संवर्द्धन/आधारों का प्रतिपादन करना, सूक्ष्म दृष्टि से साहित्य की रचना - प्रक्रिया के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालना, कृति के अन्तर्भेदों, मर्मस्पर्शी स्थलों एवं विशिष्टताओं का उद्घाटन करना, मानवीय संवेदन की अनुभूति को सघन और तीव्र बनाना या आलोचना की प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान एवं आनन्द से पाठक को रसास्वादन
/ पुन. जीवन और साहित्य के मूल्यांकन के समुचित

में सहायता देना आदि । अत: हम यह कह सकते हैं कि जीवन, साहित्य, कला एवं आलोचना का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है । आलोचना की दृष्टि कलाकार में जितनी सूक्ष्म होती है उसकी कृति उतनी ही सार्थक एवं प्रभाविष्णु होती है । पाश्चात्य आलोचना के जनक अरस्तू की दृष्टि से आलोचना का मुख्य कार्य सहृदय पाठक को कृति की विशेषताओं से परिचित कराना और उसका रसास्वादन कराना है ।[2]

ड्राइडन ने आलोचना को और भी व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । टी·एस·इलियट के अनुसार "हमारे जीवन्त अस्तित्व के लिए जिस प्रकार से सांसों का स्पन्दन अनिवार्य है, इसी प्रकार आलोचना भी अनिवार्य है ।"[3]

भारतीय और पाश्चात्य चिन्तकों ने समय - समय पर आलोचना की विभिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं, जिनमें उसके स्वरूप, कार्य एवं उसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है ।

मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "गहन चिन्तन के द्वारा जो ज्ञान विश्व में जानने योग्य हो, निरपेक्ष भाव से उसको समझना और उसका विकास करना आलोचना है और साहित्य का मूल्यांकन करते हुए आलोचना के द्वारा यह स्पष्ट करना है कि किन कारणों से कृति श्रेष्ठ या निकृष्ट कोटि की है ।

इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक , दार्शनिक, साहित्यिक, प्रगतिवादी नवलेखन आदि की दृष्टि से भी आलोचना की विभिन्न परिभाषाएं दी गई हैं ।

यदि "समालोचना" पर विचार करें तो व्युत्पत्ति की दृष्टि में "सम" उपसर्ग के योग से समालोचना शब्द की रचना हुई । "आलोचना" का अर्थ यदि देखना है तो समालोचना से अभिप्राय सम्यक् रूप से या सब प्रकार से

देखना है । कृति के अन्तरंग एवं बहिरंग तत्वों का सूक्ष्मता से अनुशीलन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन समालोचना का मूलाधार है । अर्थात साहित्यिक कृति का निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण आदि करते हुए उसकी विशेषताओं का उद्घाटन करना तथा उसका मूल्यांकन करना है ।

निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि "आलोचना" शब्द के अर्थ में समीक्षा, समालोचना आदि शब्द प्रचलित हैं किन्तु न्यूनाधिक रूप में ये मात्रा अथवा प्रकृति में "आलोचना" से भिन्न हैं । अत: साहित्यिक कृति के वस्तुगत एवं शिल्पगत सौन्दर्य का विवेचन करते हुए सिद्धांतों की स्थापना करना तथा सिद्धांतों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करने का नाम "आलोचना" है ।

(ब) तेलुगु :

तेलुगु साहित्य में हिन्दी के "आलोचना" शब्द का व्यतिरेक अर्थ है । तेलुगु में इसका अर्थ होता है "सोचना" । हिंदी के "आलोचना" शब्द का समानार्थ शब्द तेलुगु में केवल एक ही है जो कि "विमर्श" है । लेकिन संस्कृत के "समीक्षा" शब्द को भी तेलुगु में " आलोचना" के लिए प्रचलित रूप में प्रयोग किया जाता है ।

"विमर्श" अथवा "विमर्शन" शब्द "मृश" धातु में "वि" उपसर्ग लगाकर बना है । "मृश" धातु के अनेक अर्थ हैं, यथा - सोचना, विचार करना, देखना, निरीक्षण करना और विवेचन करना । अत: इन शब्दार्थों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि "विमर्श" का अर्थ है किसी रचना अथवा कलारूप का सावधानी से निरीक्षण करना, उस पर विचार करना, तथा व्यापक विचार विनिमय के बाद उनके गुण - दोषों पर मत प्रकट करना । इसके

अलावा "विमर्श" का अथवा "समीक्षा" का और भी व्यापक रूप है कि विश्लेषण, विशद व्याख्या, टीका अथवा तुलनात्मक अध्ययन को भी विमर्श अथवा समीक्षा माना जाता है ।

जिस प्रकार केवल गुण - दोष निरूपण को ही हिंदी चिन्तकों ने आलोचना नहीं माना है उसी प्रकार तेलुगु साहित्य के चिन्तकों ने भी आलोचना के प्रति केवल गुण - दोषों को प्रमाण नहीं मानकर विस्तृत रूप से उसका चिन्तन किया है । प्रो० डी॰वेंकटावधानी जी के अनुसार "सच्ची और अच्छी समीक्षा के लिए यह अपेक्षित है कि समीक्षित कृति को भली प्रकार समझा जाए और उसके गुण - दोषों को सैद्धांतिक रूप में प्रस्तुत किया जाए ।[5]

डा० सी॰नारायण रेड्डी ने आलोचना के बारेमें अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है - "कविता विषय को स्थूल रूप में कहती है बल्कि आलोचना सूक्ष्म रूप में विषय का विवेचन और विश्लेषण करती है ।"[6]

यदि हम हिंदी और तेलुगु साहित्य कीआलोचना की परिभाषाओं के बारे में विचार करें तो दोनों साहित्य के चिन्तकों ने और पाश्चात्य विद्वानों ने भी "आलोचना" के बारे में अपने - अपने ढंग से विचार व्यक्त किए हैं जिनमें कि सभी परिभाषाओं का मूल अर्थ एक ही है । अत: निष्कर्षत: समीक्षा या आलोचना वह है जो कृति के वस्तुगत एवं शिल्पगत सौन्दर्य का विवेचन तथा विश्लेषण करते हुए नये - नये सिद्धांतों की स्थापना करती हो । अत: आलोचना का अर्थ किसी कृति की पूर्ण परीक्षा है । इस विधा को लेखक और पाठक के मध्य की कड़ी माना गया है ।

हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना के उद्भव और विकास के पहले आलोचना के दोनों पक्षों (1) व्यावहारिक आलोचना (2) सैद्धांतिक आलो-चना के बारे में भी थोड़ा सोचना आवश्यक है । संस्कृत के काव्यशास्त्र से उसका संबंध केवल सैद्धांतिक धरातल पर जुड़ता है । क्योंकि संस्कृत में व्यावहारिक समीक्षा नहीं थी, यानी आज के रूप में नहीं थी । वह कहीं गुण - दोष

विवेचन के प्रसंग में आ जातीथी तो कहीं टीकाओं के रूप में, कहीं कई कवियों की विशेषताओं की सूक्तिमूलक तुलना के रूप में है तो कहीं रंगशाला के प्रेक्षकों की हर्ष और विषाद सूचक ध्वनियों के रूप में । हिंदी के रीति काल में इसी परंपरा की अनुकृति दिखाई पड़ती है । वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र ने सिद्धांत चर्चा में ही अधिक रूचि दिखाई और व्यावहारिक समीक्षा की ओर प्रारंभ से ही उन्मुख रहा । इसके कारण ही व्याख्या करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है --"भारतीय काव्यशास्त्र में जहां रस - भोक्ता सहृदय केमन का विश्लेषण है और उसी को दृष्टि में रखते हुए काव्य की मूलभुत समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है वहां पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस स्रष्टा साहित्यकार की मानसिक प्रक्रिया का परीक्षण किया गया है और काव्य के प्राय: सभी तात्त्विक प्रश्नों को उसी के संबंध से हल करने की चेष्टा की गई है । वहां कृति की समीक्षा करते हुए कर्ता को नहीं भुलाया गया इसलिए वहां आरंभ से ही व्यावहारिक समीक्षा का प्राचुर्य रहा ।..... हमारे प्राचीन काव्यशास्त्र में रोमानी व्यक्तिवादी समीक्षा का सर्वथा अभाव है -- शैली, रस, सभी काव्य तत्वों का विवेचन इस प्रकार किया गया है जैसे सृष्टि में कवि के व्यक्तित्व का कोई हाथ न हो, वे केवल यांत्रिक सृष्टियां मात्रहैं । इसी मुख्य भेद के कारण भारतीय काव्य - शास्त्र काव्य के अंगांग के भेद - प्रभेदों में फंसा रहा और उधर पाश्चात्य काव्य शास्त्र अपनी परिधि व्यक्तित्व के सहारे मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, इतिहास आदि तक विस्तृत करता गया । हिंदी और तेलुगु समीक्षा वास्तव में इस व्यावहारिक समीक्षा से ही शुरू होती है । यह व्यावहारिक समीक्षा उसे प्राचीन सिद्धांतों को नये सन्दर्भ में परखने की दृष्टि भी देती है और इस प्रकार क्रमागत सिद्धांत हिंदी समीक्षा के प्रारंभ से ही नवीनतम यों नये संदर्भों से जुड़कर नवीन होते चलते दीखते हैं ।

सैद्धांतिक आलोचना में या तो पुर्व प्रतिपादित सिद्धांतों का विवेचन करते हुए उनका विशदीकरण अथवा नवीनीकरण किया जाता है या नवीन

सिद्धांतों की स्थापना की जाती है । सिद्धांतों में शास्त्र शब्द से केवल संस्कृत या भारतीय काव्य - सिद्धांतों का बोध होता है जबकि सैद्धांतिक आलोचना में भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वित रूप ग्रहण किया जाता है ।

सैद्धांतिक आलोचना के सिद्धांत ही व्यावहारिक आलोचना के मूलाधार होते हैं । उन्हीं के आधार पर किसी कृति की व्याख्या एवं उसका मूल्यांकन होता है । दूसरी ओर सैद्धांतिक आलोचना के सिद्धांत, व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से परिमार्जित तथा परिपुष्ट होते हैं ।

आलोचना का उद्भव :

(अ) हिंदी :

हिंदी में "आधुनिक काल" का प्रारंभ सन् 1850 ई० से माना जाता है । वास्तव में सन् 1850 से 1940 ई० तक का कालखंड हिंदी साहित्य में प्राचीन एवं नवीन विचारों, पद्धतियों, प्रवृत्तियों तथा साहित्यिक मान्यताओं का सन्धिकाल था । वास्तव में हिंदी में आलोचना का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ और "हरिश्चन्द्र चंद्रिका" के मुख पृष्ठ पर पत्रिका में प्रकाशित होने वाले विषयों कीजो सूची दी गई है उसके अंत में "... और समालोचना संभूषिता" लिखकर समालोचनात्मक रचनाओं को स्थान दिया गया है । आलोचना के इस उदय काल में आलोचना की पद्धति का कोई मापदंड नहीं था । किसी लेखक की रचना का रीति परंपरा के अनुकूल गुण - दोष विवेचन या लेखक के बारे में इधर - उधर के एक - दो विचार लिख देना, इतनी - सी बातें आलोचना में दिखाई देती हैं । "कवि वचन सुधा" में प्रकाशित "हिंदी कविता" शीर्षक लेख में हिंदी के बिलकुल आरंभिक काल की आलोचना पद्धति का रूप मिलता है ।[7] इसमें आलोचना पद्धति का वर्णनात्मक रूप अधिक मिलता है और "हिंदी कविता" पर लिखने के बजाय नाटक पर ही अधिक लिखा गया है । इसी के समान "क्षत्रिय पत्रिका" और "आनन्द कादंबिनी" में भी आलोचनात्मक लेख मिलते हैं । इन पत्रिकाओं में प्राप्ति

स्वीकार के लिए जो स्तंभ या उसमें "अंधेर नागरी" नाटक, "नीलादेवी" नाटक "संयोगिता स्वयंवर" नाटक, "नूतन ब्रह्मचारी" उपन्यास आदि साहित्यिक रचनाओं तथा तत्कालीन प्रकाशित पत्र - पत्रिकाओं की आलोचनाएं रहती थीं। इस प्रकार की " प्राप्ति स्वीकार" या "आलोचना" का उद्देश्य "गुन गाना" दोष दिखाना और सीख सिखाना" तक ही सीमित था । लेकिन यह परिस्थिति धीरे - धीरे परिवर्तित होती गई ।

"संयोगिता स्वयंवर"[8] तक आते-आते समालोचनात्मक शैली का निखरा हुआ रूप मिलता है । इसमें समालोचक कुछ कहना चाहता है वह केवल पुस्तक के गुण-दोष का विवेचन करना नहीं चाहता, बल्कि तत्कालीन समालोचना के क्षेत्र में जो कुछ धांधली मचीथी उसकी ओर भी संकेत करता है ।

भारतेन्दु कालीन "कवि वचन सुधा", "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका", "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन", "आनंद कादंबिनी", "हिंदी प्रदीप", "कवि व चित्रकार" आदि पत्रिकाओं में आलोचनात्मक रचनाएं थीं । परन्तु पाठकों का मन समालोचना की ओर आकृष्ट नहीं हुआ था क्योंकि अधिकतर लेखक किसी न किसी पत्रिका के संपादक थे, इसलिए उनकी पुस्तकों पर किसीदूसरी पत्रिका में भी आलोचना छपती थी ।

भारतेन्दु युग रीतिकाल से प्रभावित था ।इसलिए पाण्डित्यपूर्ण समालोचना पद्धति का प्रभाव कहीं नहीं दिखाई पड़ता है । इस काल के आलोचकों ने कविता, नाटक, उपन्यास आदि पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं परन्तु आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं दिया गया है । किन्तु भारतेन्दु का "नाटक" सैद्धांतिक समीक्षा की पहली पुस्तक है । यद्यपि यह पुस्तक नाटक साहित्य का कोई बहुत गहरा अध्ययन तथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत नहीं करती है, फिर भी कई दृष्टियों से यह महत्वपूर्ण है। इसमें पश्चिम की नाटक प्रणालियों का अध्ययन कर भारतेन्दु ने प्राचीन साहित्य के पौष्टिक और अपौष्टिक तत्वों का विश्लेषण प्रस्तुत किया । भारतेन्दु के

नाटक के अतिरिक्त सैद्धांतिक समीक्षा की झलकियाँ यत्र तत्र संपादक के नाम पत्रों में मिलती है जैसे "नागरी नीरद" (बाबू देवकीनन्दन खत्री) शब्द योजना (शुक्ल जी) आदि । यह युग समाज विरोधी आडंबरों, भाव विरोधी शब्द जालों, रीतिकालीन वासनात्मक रूढ़ चित्रों और निरर्थक चमत्कारों के प्रति विद्रोही भाव लेकर पैदा हुआ था । इसका असर भारतेन्दु काल की रचना और समीक्षा दोनों पर दिखाई पड़ता है ।

सैद्धांतिक समीक्षा की तरह व्यावहारिक समीक्षा भी इस काल में अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही लक्षित हुई जो कि पुस्तक - समीक्षा, संपादक के नाम पत्र, आदि द्वारा प्रकट होती है ।

इस काल में भारतेन्दु जी के साथ - साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि आलोचक हुए हैं । इन आलोचकों में भट्ट जी का महत्व सबसे ज्यादा है, वे आधुनिक ढंग की आलोचना के जन्मदाता हैं । भट्ट जी ने नियमित रूप से प्राचीन साहित्य पर आलोचनाएं नहीं लिखी हैं किन्तु फुटकर लेखों के रूप में उन्होंने संस्कृत के विभिन्न कवियों पर प्रकाश डाला है । भट्ट जी कविता पर बन्धों के विरुद्ध थे और बनावटी तथा कृत्रिम कविता के भी ये प्रशंसक नहीं थे ।[9] भट्ट जी के विचार में दबाव में कविता जोश दब जाता है । उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा-पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है । (रसज्ञ रंजन पृ॰ 46)

इस उद्भव काल के आलोचकों में श्री बाल मुकुन्द गुप्त ने साहित्यिक जीवन के आदि से लेकर अंत तक हिंदी के प्रसिद्ध पत्रों का संपादन किया था । इनकी आलोचना के दो क्षेत्र ठहरते हैं - एक शुद्ध साहित्यिक आलोचना का क्षेत्र , जिसके अंतर्गत समकालीन लेखकों और साहित्यकारों की रचनाओं पर लिखी आलोचनाएं आती हैं और दूसरा राजनीतिक क्षेत्र जिसके अंतर्गत उनकी

दृष्टि साहित्य से हट कर समाज और राष्ट्र पर पड़ती है । इस प्रकार की उनकी आलोचनाएं हैं- "अश्रुमती" नाटक तथा "तारा" उपन्यास पर लिखे लेख । गुप्त जी की अंतिम एवं युगान्तकारी विशेषता है तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का बीजारोपण । यद्यपि भारतेन्दु ने आलोचना का मूल रूप विकसित किया था, पर तुलनात्मक समीक्षा की ओर प्रयास नहीं हो पाया था । उदाहरण के लिएगुप्त जी ने भारतेन्दु जी की प्रतिभा एवं काव्यशक्ति की तुलना प्रतापनारायण मिश्र जी से की है ।

अत: हम आलोचना के उद्भव काल में यह देखते हैं कि भारतेन्दु काल में इसका बीजारोपण हुआ है । अत: इसमें आलोचना के प्रयोगावस्था के लक्षण दिखाई पड़ते हैं । परन्तु आलोचना की यह परंपरा एक नए युग की प्रतीक्षा कर रही थी ।

__(आ) विकास :__

सन् 1897 ई० में "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक नई दिशा मिली और द्विवेदी युग के आलोचकों की प्रारंभिक रचनाएं इस पत्रिका/के प्रकाशन के साथ हिंदी साहित्य के आलोचना क्षेत्र में एक नए युग का प्रकाशन हुआ । अत: इस पत्रिका के प्रकाशन से हिंदी में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र, श्याम सुन्दर दास, अंबिकादत्त व्यास और मिश्रबन्धु जैसे धुरंधर लेखकों की प्रतिभा: को विकसित होने के लिए अवकाश मिला तथा द्विवेदी युग की गद्यलेखकों की एक विशाल परंपरा निर्मित हुई । पत्रिका में सन् 1898 ई० , जून के अंक में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत "नागरी" तेरी यह दशा ।" श्यामसुन्दर दास कृत "भारतवर्षीय भाषाओं की जांच" जैसे महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं । इससे यह प्रकट होता है कि पत्रिका के प्रारंभिक अंकों में ही हिंदी साहित्य के विविध अंगों पर विचार होने लगा ।

(द्वारा पाठकों के सामने आने लगीं। अतः इस पत्रिका

आधुनिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात "सुदर्शन" {1900 ई} "सरस्वती" {1900 ई} "समालोचक" {1902 ई} आदि पत्रिकाओं के कारण हुआ । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के "सरस्वती" के संपादक होने के बाद आलोचनात्मक साहित्य लिखने के लिए प्रोत्साहन मिलने लगा और प्रकाशित पुस्तकों की समालोचना करने की दृष्टि से सन् 1904 ई० से सरस्वती में "पुस्तक समीक्षा स्तंभ" आरंभ किया गया इसी से द्विवेदी युगीन समालोचना साहित्य का आरंभ माना जाता है ।

अत: हम यह कह सकते हैं कि द्विवेदी युग में समीक्षा के उन बिन्दुओं का स्पष्ट विकास दिखाई पड़ता है जो भारतेन्दु युग में लक्षित हुए थे । इस कालकी समीक्षा में कई महत्वपूर्ण बातें द्रष्टव्य हैं - {1} इस काल में पुस्तकों की पुस्तकाकार आलोचनाएं शुरू हुईं । कृत्ति विशेष और कवि विशेष की कृतियों का व्यापक आकलन पुस्तक रूप में होने लगा । {2} भारतेन्दु काल में रचना को परखने का कोई स्पष्ट मानदंडनिर्मित नहीं हो सका था, यद्यपि राष्ट्रीय और सामाजिक मूलवत्ता तथा भावों की सुन्दरता का मिला जुला प्रभाव समीक्षकों की दृष्टि में जरूर था । द्विवेदी काल में मानदंड स्पष्ट हो उठा और यह मूलत: युगीन सामाजिक उपयोगितावाद और भावात्मकता से निर्मित है । अर्थात इस काल का मानदंड साहित्यिक होने की अपेक्षा नैतिक अधिक है । इस काल के समीक्षक कविता में भाव की स्थिति स्वीकार करते हैं किन्तु वह भाव समीक्षा की केन्द्रीय शक्ति नहीं बन पाता । इस काल के समीक्षा का स्वर युगीन सामाजिक संदर्भों से कटकर समीक्षा से भाववादी आधार तो अवश्य प्रदान करता है किन्तु उसमें कोई नया आयाम नहीं जोड़ता - पूर्व कथित का मात्र कथन ही करता है । तुलनात्मक ढंग से देव और बिहारी की अपनी - अपनी महत्ताएं सिद्ध करने की जो जी तोड़ कोशिश की गई है वह पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, कृष्ण बिहारी मिश्र आदि की आलोचनाओं में प्रकट होती हैं ।

द्विवेदी जी के समय में अंग्रेजी साहित्य में विक्टोरियन युग की आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रवेश हो चुका था जो आदर्श एवं प्रभाववादी था । परन्तु अंग्रेजी समालोचना का प्रभाव द्विवेदी काल में नहीं दिखाई

पड़ता । द्विवेदी जी को संस्कृत साहित्य के प्रति अपार श्रद्धा थी इसलिए उनकी आलोचनात्मक कृतियों में भारतीय रस - सिद्धांत को ही महत्व पूर्ण स्थान मिला अपितु उनकी अंतिम कृतियों में रोमांटिक भावधारा का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है । शास्त्रीय संयम से युक्त स्वच्छन्दतावादी परंपरा का स्वरूप उनकी आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है । उनका "उपन्यास रहस्य" नामक लेख उनकी आलोचना शैली और दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है । इसमें आलोचना की भारतीय पद्धति का स्पष्ट रूप था, जो द्विवेदी जी की प्रतिभा में दीख पड़ता है ।[10]

द्विवेदी जी द्वारा रचित अनेक ग्रंथ है जिनमें उनका साहित्य चिन्तन उपलब्ध होता है। इनमें से मुख्य हैं - साहित्यसीकर, रसन्त रंजन, वाग्विलास, ज्ञान भारती, विचार-विमर्श, कालिदास और उनकी कविता आदि । इनमें उन्होंने कविता के सभीअंग, काव्य प्रयोजन, छंद आदि पर विस्तृत रूप में विचार किया है । कवि और कविता शीर्षक निबंध में प्राचीन काव्य पद्धति को समसामयिक संदर्भ में अनुपयोगी घोषित कर नई कविता का स्वागत करते हुए उनका कथन है, "अतएव नई भाषा और नई कविता यदि कोई नुक्ताचीनी करे तो आश्चर्य नहीं ।"[11] इसी प्रकार "नायिकाएं ही श्रृंगार रस की अवलंबन हैं और श्रृंगार रस ही सब रसों का राजा है, सदाचरण का सत्यनाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़कर कोई शक्ति हो सकती है ?"[12] के रूप में द्विवेदी जी का नैतिक , लोक हितवादी व्यक्तित्व उभरकर सामने आ जाता है । द्विवेदी जी के अनुसार कविता और पद्य में अंतर है। उनके मत से किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक बात का नाम कविता है, पर नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है ।[13] वे कविता का छंदोबद्ध होना आवश्यक नहीं मानते ।

द्विवेदी जी की कविता संबंधी इन मान्यताओं में कुछ पर संस्कृत काव्य शास्त्र का प्रभाव है तो कुछ पश्चिम साहित्य की देन हैं । पूर्व और पश्चिम की सैद्धांतिक विचार धारा का समन्वय दृष्टिकोण इनके निबंधों में स्पष्ट रूप से झलकता है । द्विवेदी जी की रचनाओं में भविष्य की हिंदी सैद्धांतिक आलोचना

के कुछ ऐसे बीज अंकुरित हुए हैं जिनका विकास आ॰ रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धांतिक आलोचना में उपलब्ध होता है । इस दृष्टि से हिंदी सैद्धांतिक आलोचना की पार्श्व-भूमि में आ॰ द्विवेदी जी का महत्वपूर्ण स्थान है । हिंदी में "मुक्तछंद" , "नई कविता" और "गद्य काव्य" का आह्वान सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने ही किया ।

द्विवेदी जी के अलावा इस काल में मिश्रबन्धुओं की समीक्षा दृष्टि नैतिकता के बावजूद अन्य समीक्षकों की अपेक्षा अधिक साहित्यिक थी। ये मूलत: रस परंपरा के ही समर्थक हैं । रस परंपरा का समर्थन करते हुए उन्होंने साहित्य के स्थायी मूल्यों का आकलन करना चाहा है । वे उपयोगितावादी होते हुए भी कृतियों को उनके युगीन सामाजिक संदर्भों में पहचानने में समर्थ नहीं हो सके ।

पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवान्दीन, और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र इस काल के अन्य महत्वपूर्ण समीक्षक हैं । इनके साहित्य संस्कार विशेषत: रीतिवादी लक्षित होते हैं । इनकी आलोचना का विषय तो "देव और बिहारी" को लेकर था । इन्होंने शैलीगत चमत्कार को विशेष महत्व दिया है । इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिंदी समीक्षा का उद्भव और विकास किस प्रकार और किन मान्यताओं के आधार पर हुआ है । विकास युग के बाद उत्कर्ष युग,(शुक्ल युग)आता है जिसे हम आलोचना की चरम अवस्था कहते हैं । इसके बारे में आगे विचार करना उचित रहेगा ।

तेलुगु साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास :

आदि कवि नन्नया आदि कवियों ने अपने ग्रंथों में काव्य के बारे में थोड़े बहुत आलोचनात्मक विचार व्यक्त किए हैं किन्तु उन विचारों का सैद्धांतिक महत्व नहीं है क्योंकि उनके जो भी ग्रंथ हैं वे संस्कृत सिद्धांतों के पद्य गद्यात्मक अनुवाद हैं ।

आधुनिक तेलुगु में साहित्यिक आलोचना के उद्भव को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - (1) पूर्वार्ध युग (2) उत्तरार्ध युग

इस प्रथम भाग का काल निर्णय स्थूल रूप में सन् 1810 ई० से सन् 1870 ई० तक है । इस काल में पत्र - लेख, ग्रंथ - आमुख, टीकाएं, कवियों की जीवनियां, भाषाशास्त्र, व्याकरण शास्त्र तथा कोश ग्रंथों के रूप में तेलुगु साहित्य की समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ है । सन् 1766 ई० से 1800 ई० तक आन्ध्र प्रदेश के उत्तर सरकार प्रान्त, तेलंगाणा प्रान्त अंग्रेजों के अधीन हो गये थे । उनके प्रभाव के कारण जिस प्रकार देश की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ था उसी प्रकार तेलुगु साहित्य में भी अगणित परिवर्तन हुआ है । पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होने से तेलुगु साहित्य में भी समाचार पत्रों का उदय हुआ और इसके साथ - साथ, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, जीवनियां आदि साहित्यिक विधाओं का भी विकास हुआ है । मुद्रण यंत्रों की स्थापना के कारण ताड़पत्रों में जो भी साहित्य बन्द पड़ा हुआ था उसका प्रकाशन किताबों के रूप में हुआ । तेलुगु में प्रथमत: ग्रंथों का प्रकाशन सन् 1806 ई० से प्रारंभ हुआ है ।[14] प्रकाशित ग्रंथों की सुविधा के कारण साहित्य समीक्षा का अंकुरार्पण हुआ । उसी प्रकार सन् 1835 ई० में "सत्यदूता" नाम से तेलुगु प्रथम पत्रिका का आरंभ हुआ ।[15] पत्रिकाओं में समीक्षात्मक लेखों के प्रकाशन द्वारा तेलुगु साहित्यिक आलोचना को सहारा मिला । इनके अंतर्गत कवि जीवनियां, साहित्येतिहास आदि निबंध छपते थे । तेलुगु साहित्यिक आलोचना के मार्गदर्शक के रूप में अथवा पूर्वार्ध काल के प्रवक्ताओं के रूप में श्री कावलि वेंकटरामस्वामी, श्री सी॰पी॰ ब्रौन, श्री जूलूरि अप्पय्या शास्त्री आदि को माना जाता है ।

श्री कावलि वेंकटरामस्वामी जी ने 'कलनल मेकंजी' के पास अनुवादक के रूप में काम करते हुए सन् 1820 ई० में 'Biographical sketches of Deccan-Poets (Cawelly Venkata Ramaswami, Late Head Translator and Pandit in the Literary and Antiquarian Department, Calcutta: 1829, Madras 1888).

नाम से आन्ध्र , संस्कृत , कन्नड़, तमिल, मराठी भाषाओं के 108 कवियों कीजीवनियों के बारे में पुस्तक लिखी है । इसमें उन्होंने तेलुगु के महान कवि अल्लसानि पेद्दना, श्री कृष्ण देवराय भट्टुमूर्ति, कुमरि मोल्ल आदि की जीवनियों के बारे में विस्तार से लिखा है । इसमें रामस्वामी जी की पाश्चात्य समीक्षा दृष्टि प्रकट होती है क्योंकि इसमें उन्होंने अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत के बारे में लिखा है ।[16] और संस्कृत को "मृतभाषा" कहने से इनका पाश्चात् अनुकरण और भी स्पष्ट होता है ।[17]

रामस्वामी के बाद चार्लेस फिलिप ब्रोन का नाम गिनाया जा सकता है जिन्होंने तेलुगु भाषा की अत्यधिक सेवा की थी । तेलुगु व्याकरण शास्त्र, कोश ग्रंथ, छंदोग्रंथ[18] वेमना के पद्यानुवाद[19] आदि इनकी साहित्यिक रचनाएं है । इन सभी में ब्रोन की आलोचनात्मक धारणाएं प्रकट होती हैं । जिनसे तेलुगु साहित्य और भी विशिष्ट हो गया । श्री जूलूरि अप्पय्या शास्त्री ने भी मनुचरित्र (1851), वसुचरित्र (1844), कवि कर्ण रसायनमु, विजय विलासमु (1831) आदि काव्यों की टीकाएं लिखी हैं । जानपद साहित्य का प्रारंभ ब्रोन महाशय के समय में ही हुआ है । 20वीं शताब्दी में जो व्यावहारिक (बोल चाल की) भाषा आन्दोलन हुआ है उसका बीजार्पण/ न होगा कि ब्रोन महाशय के 20 वर्ष के परिश्रम से तेलुगु साहित्यिक समीक्षा का अंकुरार्पण हुआ है जिन्हें हम प्रवक्ता भी कह सकते हैं ।

उत्तरार्ध युग (सन् 1875 - 1914 ई0) या उद्भव काल :

पूर्वार्ध युग के महापंडितों ने आलोचना के लिए परिश्रम किया है लेकिन उस काल में जो भी साहित्य की, आलोचना की पुरोगति हुई थी वह अंग्रेजी भाषा तक सीमित रह गई है । ब्रोन महाशय के साथ - साथ रामस्वामी जैसे तेलुगु पंडितों ने भी अपनी साहित्यिक रचना अंग्रेजी में ही की है । अत: हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि इसी काल को जो सन् 1875 से आरंभ होता है उसको आलोचना का उद्भव काल घोषित कर सकते हैं और तेलुगु

/ ब्राउन ने ही किया है, इस तरह यह कहना अतिशयोक्ति

साहित्य के प्रथम आलोचक के रूप में श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु जी का नाम गिनना उचित है । सन् 1875 - 76 में "विवेक वर्धनी" नामक पंतुलुजी कीपत्रिका में "विग्रहतंत्र विमर्शनमु" नामक पंतुलु जी के ग्रंथ का एक निबंध प्रकाशित हुआ है ।आन्ध्र वाङ्मय में साहित्यालोचन का प्रथम ग्रंथ यही है । अतः यह उद्भव काल वीरेशलिंगम् युग भी कहलाता है ।

श्री वीरेशलिंगम् पंतुलु जी के युगमें पंतुलु जी ने उपन्यास, जीवनियाँ, आत्मलेखन, व्यंग्यकाव्य, समीक्षा आदि नवीन साहित्यिक विधाओं का आरंभ किया । उन्होंने "विवेक वर्धनी" (1874-94) "हास्य संजीवनी" (1876), "चिंतामणि" (1892-98) आदि पत्रिकाओं का संचालन किया । समीक्षा ग्रंथ, कवियों की जीवनियां तथा पद्यकाव्य को पंतुलु जी ने अपनी समीक्षा के विधाओं के रूप में स्वीकार किया । प्रबंध युग के बाद वाली साहित्य रचनाओं में स्त्री को भोगवस्तु बनाकर जिस श्रृंगारिकता का वर्णन हुआ है प्रथमतः पंतुलु जी ने उसकी कटु आलोचना की। उन्होंने "अभाग्योपाख्यानमु" नामक (1876) हास्य प्रबंध काव्य की रचना की । तेलुगु साहित्य का यह प्रथम व्यंग्य काव्य (Parody) माना जाता है । इसमें उन्होंने प्रबंध युग के बाद जो श्रृंगार काव्यों की रचना की है उसके प्रति व्यंग्य आलोचना की है । यह पंतुलु जी की समीक्षा दृष्टि में एक नवीन मोड़ है । इन्होंने विवेकवर्धनी पत्रिका में "आदानिका" शीर्षक के अंतर्गत अपने समीक्षात्मक निबंध लिखते थे । उन्होंने इसमें वाकिलाल वासुदेव शास्त्री कृत "सीजरु चरित्रा" (सीजर की जीवनी) में छंद वैविध्य की कमी की समीक्षा की । "भारति" पत्रिका में "नव्यान्ध्र व्याकरण" नामक इनका लेख 1942 जून में प्रकाशित हुआ है ।इनकी रचनाएं सरल बोलचाल की भाषा में होती थीं । इसके प्रति कुछ पंडितों ने आक्षेप प्रकट किये जिनमें कोक्कंड वेंकटरत्नम् जी प्रमुख थे । इनका मत था कि रचना की साहित्यिक भाषा ग्रान्थिक भाषा होनी चाहिए । पंतुलु जी अंग्रेजी के भी महान पंडित थे अतः यह स्वाभाविक था कि इनकी कुछ रचनाओं पर अंग्रेजी कवियों और लेखकों की रचनाओं का प्रभाव रहा था।

उदाहरण के लिए स्पेन्सर कवि की The tears of muses से प्रभावित होकर उन्होंने "सरस्वती नारद विलापमु" Lives of Poets जान्सन से प्रभावित होकर (कवि जीवनियाँ) "कवुल चरित्रा" लिखा है । कहा जाता है कि कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी ने अपना ग्रंथ "कवित्वतत्वविचारमु" को पंतुलु जी के पास सुझावों के लिए भेजा था । इससे पंतुलु जी की समीक्षा दृष्टि की महानीयता का स्थान प्रकट होता है । "सरस्वती - नारदविलापमु" में पंतुलु जी ने कहा है काव्य के लिए रस ही प्राण है, जो रसहीन कविता होती है यदि उसमें अलंकार हो भी तो वह शवालंकार के समान है, छंदोबद्ध कविता होने पर भी उसमें रस होना चाहिए । इससे हमें वीरेशलिंग जी की काव्यात्मा के दर्शन होते हैं । "विवेकचन्द्रिका विमर्शनमु" भी पंतुलु जी का विशिष्ट साहित्यालोचन ग्रंथ है ।

पंतुलु जी के बाद इस उद्भव काल के दूसरे समीक्षक व आलोचक हैं श्री वेदमु वेंकटरायशास्त्रि जी इन्हें "कलापूर्ण" "महामहोपाध्याय" तथा, "सर्व तंत्र स्वतंत्र" तथा "अभिनव मल्लिनाथ" आदि उपाधियों से सम्मानित किया गया है । इनका समीक्षात्मक क्षेत्र बड़ा व्यापक है । इन्होंने "विक्रमार्कचरित्र- "मुद्रणा विमर्शनमु" (1898) "आन्ध्र प्रसन्न राघव विमर्शनमु" (1898) कालहस्ति महात्म्य मुद्रणा विमर्शनमु" (1960), "तिक्कना सोमयाजि विजयमु" (1920), आन्ध्र ग्रंथ विमर्शना प्रकारलेशमु (1940) भारतभारत रूपक मर्यादलु (1040) आदि समीक्षात्मक ग्रंथों की रचना की । आप भी पाश्चात्य साहित्य के अच्छे ज्ञानी होनेके कारण पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित हुए थे । गुरजाड़ा अप्पाराव जी ने इनके बारे में अपने पत्र में कहा है कि None of us can altogether shake off the habits and sentiments of a life time, but original thinkers like you who combine real scholarship with literary power are able to chalk out new paths to meet new conditions and to save the literature from stagnation.

(वेदमु वेंकटरायशास्त्रि की जीवनी - वे वे II पृ. 127) उनकी समीक्षा का मुख्य विषय रहा । व्याकरण आदि जिनमें भाषा प्रधान थी, भाव नहीं ।

इस काल में श्री काशी भट्ट ब्रह्मय्या शास्त्रि का भी नाम आता है जिन्होंने उपन्यास की समीक्षा प्रथम तेलुगु में प्रारंभ की । वे "विमर्शकाग्रेसरा" उपाधि से सम्मानित थे । "राजयोगी", "कागडा", "आन्ध्र साहित्य परिषत् पत्रिका", "सरस्वति", "त्रिलिंग", "शारदा", "सुजाता", "उदय-लक्ष्मि", मुद्दुमुता", "आन्ध्र पत्रिका" आदि पत्रिकाओं में आप के कई समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हुए हैं । वे पंतुलु जी के कट्टर विरोधी रहे क्योंकि "विधवा विवाह" आदि पंतुलु जी के संघ सेवा कार्य आप को पसंद नहीं थे । पंतुलु जी की "विवेक चन्द्रिका" ग्रंथ की समीक्षा अत्यन्त प्रमुख है ।

उद्भव काल के अन्य प्रमुख समीक्षक हैं श्री गुरजाडा अप्पाराव जी जिन्होंने बोलचाल की भाषा का अत्यधिक समर्थन किया है । आप भी अंग्रेजी भाषा के महान विद्वान थे। इनके ग्रंथ,आमुख, जीवनी, पत्रिका निबंध और पत्रोत्तर आदि अंग्रेजी में ही विद्यमान हैं । अतः इन्होंने पाश्चात्य साहित्यालोचनात्मक ग्रंथों का बड़ी सूक्ष्मता से पठन किया । वज्झल चिनसीताराम स्वामी शास्त्रि ‡"वसुचरित्र विमर्शनमु" की इन्होंने समीक्षा की है । इस तरह अप्पाराव जी ने अपना समीक्षा कार्य विस्तृत किया है । "कन्याशुल्क" में नाटक,लक्षण, रस आदि के बारे में वाद - विवाद हुए हैं ।

इस प्रकार उद्भव काल अथवा वीरेशलिंगम् युग में हम यह देखते हैं कि इन 39वर्षों में तेलुगु साहित्यालोचन दिन दुना रात चौगुना होने लगा । इसमें एक क्रमागत रूप में साहित्यालोचन ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है जिनमें "विग्रहतंत्र विमर्शनमु ‡1875‡ सबसे प्रथम समीक्षात्मक पुस्तक है तो सबसे अंतिम पिंगलि सूरनार्युडु ‡1914‡ समीक्षात्मक ग्रंथ है । बल्कि इस काल में "रस" के संबंध में कोई सैद्धांतिक समीक्षा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ ।इस काल की आलोचना छंद और व्याकरण तक ही सीमित रह गई है । लेकिन तेलुगु साहित्य में आलोचना के विकास के लिए यह उद्भव काल एक बुनियाद है जिस पर विकासकालीन समीक्षा सौधा का निर्माण होना आवश्यक है ।

तेलुगु में समीक्षा का विकास :(1914 से)

"कवित्वतत्व विचारमु" नामक समीक्षा ग्रंथ जो सन् 1914 ई0 में प्रकाशित हुआ था तेलुगु समीक्षा का उद्भव माना जाता है । इस काल में अनेकानेक आलोचक हुए हैं । लेकिन इन सब में से केवल दोनों का ही नाम प्रमुख रूप से गिनाया जाता है । जिन्होंने तेलुगु समीक्षा का प्रतिनिधित्व किया वे हैं - श्री कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी जी और श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी ।

श्री कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी विद्यार्थी जीवन से ही काव्य रचना करते रहे जिसका उदाहरण हमें "मुसलम्मा मरणमु" नामक कविता से मिलता है । "कलापूर्णोदयमु" ग्रंथ पर इन्होंने साहित्यिक समीक्षात्मक निबंध लिखा है जो बाद में चलकर "कवित्वतत्व विचारमु" नाम से विश्व विख्यात ग्रंथ का रूप धारण कर लिया है । समीक्षक ही नहीं बल्कि शास्त्र निर्माता भी है । इन्होंने 1912 में अर्थ शास्त्र की रचना की । आप भी पाश्चात्य साहित्यालोचना से प्रभावित रहे । इन्होंने कई ग्रंथों के "आमुख" लिखे हैं जो 1939 में "व्यासमंजरि" नाम से प्रकाशित हुए हैं । रामलिंगारेड्डी जी की कृतियाँ संख्या में तो कम ही हैं लेकिन उनका सार अत्यधिक है । "कवित्वतत्व विचारमु" ग्रंथ को प्रधान रूप से तीन भागों में विभाजित किया जाता है जिसके पहले भाग में काव्य लक्षण, तेलुगु के प्रबंधों की समीक्षा, प्रभावतीप्रद्युम्नकाव्य की समीक्षा है और अंतिम दो भागों में कलापूर्णोदयमु की आलोचना की गई है । इनका कहना है कि "विमर्शनमु लेनिदि विवेकोदयमु वुन्डदु" अर्थात "समीक्षा के बिना विवेक का उदय नहीं होता है ।" इनकी समीक्षात्मक रचनाओं से प्रभावित होकर श्री विश्वनाथ सत्यनारायण ने अपना काव्य "ऋतु संहार" को कट्टमंचि जी को समर्पित कर दिया।

श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी इस विकास युग के दूसरे आधार स्तंभ हैं जिनको "कवि सम्राट", "कलाप्रपूर्ण", "पद्मविभूषण" उपाधियों से सम्मानित किया गया है । इनके चार प्रमुख समीक्षात्मक ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त

इन्होंने कई निबंध, लेख, आमुख, रेडियो रचनाएं की हैं । श्री विश्वनाथ जी कृत "नन्नय गारि प्रसन्न कथा कलितार्थ युक्ति" इनकी प्रथम और प्रमुख समीक्षात्मक ग्रंथ हैं जिसमें उन्होंने तेलुगु के आदि कवि नन्नयभट्ट की काव्य कला, उनके लौकिक ज्ञान एवं कथा कौशल पर प्रकाश डाला है । दूसरा आलोचनात्मक ग्रंथ है "अल्लसानि वानि अल्लिक जिगिबिगि" है, जिसमें पेद्दन्ना कृत मनुचरित्र के कथानक की अन्विति का विवेचन किया है । अन्य रचनाओं में ओक्क नाचना सोमन्ना पर भी आपने तेलुगु की समीक्षा का विचार किया है जो तेलुगु की साहित्यालोचना को आप की सबसे बड़ी देन है ।

इन दो महान आलोचकों के अतिरिक्त तेलुगु की आलोचना के जगत में और भी समीक्षक हैं जिनमें डा० दिवाकर्ल वेंकटावधानि (नन्नय भारतमु) भूपति लक्ष्मी-नारायण राव (भारतमु - तिक्कना रचना), डा० केतवरपु वेंकट रामकोटि शास्त्रि (तिक्कना - काव्यशिल्पमु), श्री कोराड़ रामकृष्णय्या (आन्ध्र कविता विमर्शनमु), गुर्रमु वेंकटसुब्बरामय्या (कवित्रय कविता विमर्शनमु), अमरेशम् राजेश्वर शर्मा (नन्नेचोडुनि कवित्वमु), डा० हरिशिव कुमार (केतना) डा० जी·वी· सुब्रह्मण्यम् (प्रथमान्ध्र महापुराणमु), डा० कोल्लिपाटि श्रीराममूर्ति (श्री नाथुडु) डा० पी·यशोदा रेड्डी (पारिजातापहरण पर्यालोचनमु) डा० अक्किराजु रमापति राव (वीरेशलिंगम पंतुलु - समग्र परिशीलना) श्री श्री (गुरजाडा) आदि प्रमुख हैं ।

1· साहित्यालोचन, पृ· 246

2· Criticism , as it was first instituted by Aristotle, was meant a standard of judging well , the chiefest part of which is to observe those excellencies ,which should delight a reasonable reader.... The Oxford English Dictionary , Page - 1181 .

3· But we might remind ourselves that criticism is as inevitable as breathing - T.S. Eliot , The sacred-wood , First edition .

4· A disinterested endeavour to learn and propogate the best that is known and thought in the world - M.Arnold, Cassell's Encyclopaedia of Literature , Page 124

5· "भारतीय समीक्षा" के अंतर्गत, सं० डा० नगेन्द्र, प्र·सं० 1975 पृ·234
उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनउ

6· "కప్పి చెప్పేది కవిత్వం, విప్పి చెప్పేది విమర్శ."
डा० सी नारायण रेड्डीजीकी कविता, "भावना" पत्रिका
युव भारती प्रकाशन - 1974

"हिन्दी कविता" 7· * "इस काल में नाटक एक दो बने जिसमें एक हास्यार्णव था यद्यपि यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं है, तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असभ्य शब्दों से भरा है, इसी से कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रखा परअनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का ही नाटक सबसे पहले जो हिंदी भाषा में पुरानी ठीक नाटक रीति से बना वह नहुष नाटक श्री गिरिधास कवि का है और इसके पीछे आजकल के अनेक नाटक बने और अब तो भाषा के अनेक व्याकरण और प्रबंध पुस्तक बन गईं। आधुनिक काल के कवियों में श्री गिरिधर दास महान कवि हुए,क्योंकि व्याकरण, कोष और नाटक हिंदी में पहले इन्होंने बनाए। पजनेस, रघुनाथ इत्यादि अनेक कवि कुछ पहले हुए पर किसी ने कोई सही बात नहीं की वही लीक पीटते चले गए।" {कविवचन सुधा, पृ· 79, जी·3, नं० 13, 10 जनवरी 1872}

"संयोगिता स्वयंवर का नाटक"

8· "यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों को समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना बहुतेरे सहयोग और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद न मानी जाय तो यह अनुमान हो कि न वे केवल नाट्यविद्या और पुराने कवियों के काव्य से ही अनभिज्ञ हैं, किन्तु कदाचित भाषा भी भलीभाँति नहीं जानते क्योंकि इस क्षुद्र ग्रंथ की रचना पर मोहित हो रचयिता को वाल्मीकि, श्री हरिश्चन्द्र के तुल्य भारतेन्दु के पद के योग्य ठहराते ।"
-आनंद कादंबिनी, माला - 2, मेघ-10, 11-12, संवत 1942, पृ·7

9· "स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है । हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला । यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी, सच्ची होंगी, और उनका असर भी सच्चा ही होगा । इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रखी ही नहीं सकते इसलिए सुसंस्कृत कविता (Classic Poetry) अवश्यमेव कृत्रिमता दोषपूरित रहेगी ।" (हिन्दी प्रदीप, अक्तूबर 1886, पृ· 14)

10· "जिसको मनुष्य के स्वभाव का ज्ञान है जो अपने विचार मनमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की हानि पहुंच सकती है, वे पश्चिमी पंडितों के तत्व निरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं ।"
-"सरस्वती", "उपन्यास रहस्य" पृ· 199, भाग- 22, खंड- 2, अक्टूबर, 1922

11· रसज्ञ - रंजन, अष्टम संस्करण - महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ· 49-50

12· -वही- निबंध - नायिका भेद ।

13. ज्ञान भारती, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, निबंध- "कवि और कविता"

अध्याय - 2

हिन्दी में भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास

अध्याय - 2

हिंदी में भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास

संस्कृत साहित्य के अनेक काव्य सिद्धांत सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्व रखते हैं जिनका विकसित रूप आधुनिक काल में आधुनिक हिंदी साहित्य में अधिक महत्व रखता है । इस दृष्टि से रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य सिद्धांत आज भी हमारे लिए उपादेय हैं । यदि अलंकार सिद्धांत को ही लिया जाए तो आज के साहित्य में पूर्ववर्ती अलंकारों के नवीन प्रयोगों और उनके भेद - प्रभेदों का विकास हुआ है । संस्कृत के अलंकारों के आधार पर ही काव्य - सौंदर्य को स्पष्ट किया जाता है । इसी प्रकार रस सिद्धांत की दृष्टि से आज की रचनाओं में नवीन भावों की अभिव्यक्ति हुई है और रस भावानुभूति की प्रक्रिया पर भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है । अतः यह देखा जा सकता है कि इन सिद्धांतों का विकास कैसे हुआ है -

1. रस सिद्धांत :

"रस" शब्द भारतीय संस्कृति और साहित्य के चरम विकास से संबंधित है । भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में "रस" शब्द का प्रयोग

सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के लिए होता है । भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्दानुभूति को ही रससंज्ञा दी गई है । अत: काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्द ही रस है ।

रस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं । उन्होंने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में अपनी कृति नाट्य शास्त्र के अंतर्गत रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया है ।

साहित्य में रस का प्रथम विवेचन आचार्य भरतमुनि ने श्रव्य काव्य के संदर्भ में नहीं बल्कि दृश्यकाव्य के संदर्भ में किया । रस के विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से संपन्न स्थायी भावों के संदर्भ में नाट्यशास्त्र में भरतमुनि का उल्लेख है --"विभावानुभाव - व्यभिचारी संयोगाद्रस रस निष्पत्ति:" कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नाना पदार्थों से तैयार किये गये व्यंजन से रस की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के समावेश से रस की निष्पत्ति होती है । जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोज करते हुए स्वस्थ पुरुष आनंद की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से संपन्न स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए सहृदय जन रस का आनंद लेते हैं ।

रस सिद्धांत काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में भावको और भावों के विविध रूपों तथा अंगों की व्याख्या प्रस्तुत करता है । यदि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की व्याख्या करने से यह दृष्टिगोचर होता है कि विभाव एक विशेष ज्ञान है जो काव्य में स्थायी भावों को आस्वादन योग्य बनाता है तथा इसके दो रूप हैं - आलंबन तथा उद्दीपन । अनुभाव से हृदयस्थ भाव व्यक्त होते हैं अर्थात हृदय में स्थायी भाव जागृत होने के पश्चात होने वाला भाव । व्यभिचारी भाव याने कि संचारी भाव जो अस्थिर है जिसमें विविध प्रकार के भाव रसानुकूल संचरण करते हैं ।

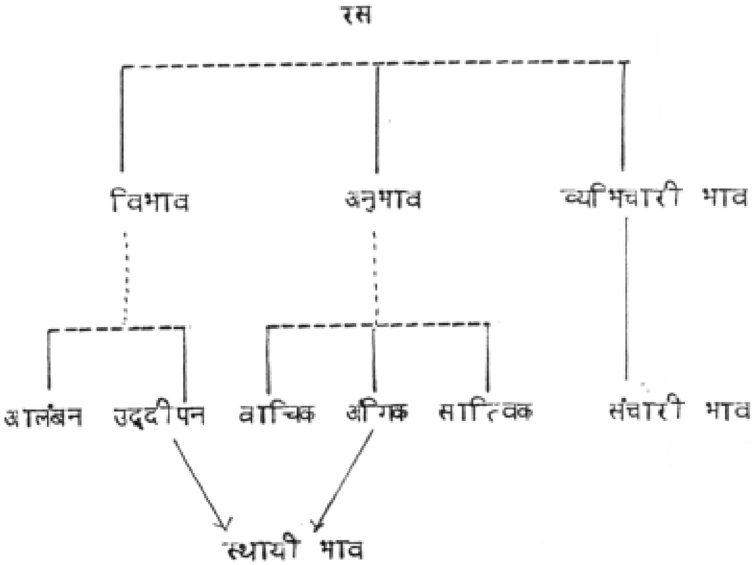

रस सिद्धांत के अनुसार जो स्थायी भाव और संचारी भाव हैं उनमें स्थायी भाव धीरे धीरे विकसित होता है और दीर्घकाल तक हृदय में स्थित रहता है जबकि संचारी भाव अचानक विकसित होकर अचानक ही लुप्त हो जाता है । अतः हम प्रेम, घृणा, उत्साह आदि को स्थायी भाव के उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं और रोष, भय, हर्ष आदि को संचारी भाव के रूप में । रस गंगा-धरकार ने लिखा है -- "स्थायीभाव चित्त में चिरकाल तक वासनारूप से स्थित रहता हुआ आलंबन से सम्बद्ध रहता है । वह विरोधी संचारी भावों से विच्छिन्न नहीं होता तथा आश्रय के हृदय में जीवन के दीर्घ भाग तक स्थित रहता है, जैसे प्रेम नामक चित्तवृत्ति ।"

किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाटक के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनंद का उदय होता है, वही रस है । रस का

संबंध सहृदय से है । अतः स्थायी भाव रूप चित्त वृत्ति ही रस रूप में व्यक्त होती है और उसके लिए विभावानुभावादि सहायक होते हैं । इसलिए विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी भाव के एकत्रित संयोग को रस मानना चाहिए ।

रस भेद
और
रस संख्या :

प्रारंभ में रसों की संख्या नौ ही मानी गयी थी । भरत ने तो नाटक में आठ ही रस माने हैं, पर काव्य में नौ रस माने गये । आगे चलकर दस रस हुए और फिर ग्यारह । आचार्य मम्मट ने जिन्हें "रतिर्देवादिविषया" सूत्र में भाव कहकर टाल दिया था लेकिन वे भक्ति काव्य धारा के प्रवाह से वात्सल्य और भक्ति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुए । इस प्रकार श्रृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र और शान्त के साथ वात्सल्य और भक्ति रस भी सम्मिलित हो गए । मुख्यतः सैद्धान्तिक रूप से नव रस ही मान्य हैं । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में जो नौवाँ रस जोड़ा गया है वह है शान्त रस ।

इन नौ रसों का विश्लेषण और विवेचन इस प्रकार किया जाता है -

अ. 1. श्रृंगार रस :

श्रृंगार को रसराज कहा गया है । इस रस का स्थायी भाव रति है । इसके भीतर अधिकांश संचारी भाव हैं । केशव, देव, भोजराज आदि आचार्य श्रृंगार को ही उत्तम रस मानते हैं । भोजराज के "श्रृंगारप्रकाश" के

अनुसार श्रृंगार का प्रभाव तुरन्त पड़ता है । श्रृंगार के संयोग और वियोग दो भेद हैं ।

अ·2· वीर रस :

वीर, प्रधान रसों में से है । वीर रस का स्थायी भाव उत्साह होता है । वीर रस के चार भेद माने गये हैं - युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर ।

अ·3· करूण रस :

करूण रस अत्यन्त प्रभावशाली है । करूण रस का स्थायी भाव है शोक । भवभूतिनेकरूण रस को ही एकमात्र रस मानते हुए कहा है कि "एको रस: करूण एव निमित्तभेदात् ।" अन्य सभी रस भेद के कारण हैं ।

अ·4· हास्य रस :

हास्य रस का स्थायी भाव हास है । इसके आलंबन के रूप में वेशभूषा, विलक्षण चेष्टाएं, विकृत रूप - आकार आदि हैं । हास्य के भेद स्वनिष्ठ, परनिष्ठ तथा स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित माने गये हैं ।

अ·5· अद्भुत रस :

इस रस का स्थायी भाव - विस्मय या आश्चर्य है । इस रस का आलंबन अलौकिक चरित्र, दृश्य अथवा विचित्र वस्तु है ।

अ·6· भयानक रस :

भय, भयानक रस का स्थायी भाव है । उग्र स्वभाव वाले व्यक्ति इसके आलंबन हैं । इसकी प्रवृत्ति संकोच की है, प्रसार की नहीं ।

अ·7· रौद्र रस :

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है । इस रस में शत्रु या दुष्ट व्यक्ति, अपमान, निन्दा, अमर्ष, गर्व,आवेग आदि भावानुभाव संचारी भाव होते हैं ।

अ·8· बीभत्स रस :

बीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा या घृणा है । रुधिर, दुर्गन्धन्य वस्तुएँ आदि की चर्चा करना, अपस्मार, कम्प, फूहड़पन आदि इसके स्थायी तथा संचारी भाव हैं ।

अ·9· शान्त रस :

इसका स्थायी भाव "शम" या "शान्ति" को स्वीकार किया गया है । आचार्य "अभिनवगुप्त" ने "शान्त रस" को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसका स्थायी भाव "तत्वज्ञान" को स्वीकार किया है । कतिपय अन्य आचार्यों ने धृति, निर्वेद आदि को भी शान्त रस के स्थायी भाव के रूप में माना है । वस्तुत: शान्त रस के स्थायी भाव के संबंध में आचार्यों में मतभेद है । फिर भी शान्त रस को नवे रस के रूप में मान्यता प्राप्त है ।

भरतमुनि के रससूत्र के कई व्याख्याकार हुए जिन्होंने अपने-अपने ढंग से सूत्र की व्याख्या की । इनमें प्रमुख वाद हैं भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ।

{क} भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद :

लोल्लट मुख्य रूप से रस को नाटक के नायक में उत्पन्न होता हुआ मानते हैं । भट्टलोल्लट ने भरत सूत्र के संयोग का अर्थ संबंध तथा निष्पत्ति का

अर्थ "उत्पत्ति" लगाया । वे कार्य-कारण संबंध को मानते हैं । अर्थात स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संबंध के कारण वासना-रूप स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है ।उनकी मान्यता है कि राम-सीता के प्रेम का अभिनय नट रंगमंच पर दिखाता है । जो रस मुख्य रूप से उत्पन्न होता है वह राम का अभिनय करने वाले नट में भी उत्पन्न होता है । दर्शक नट की क्रियाओं को राम की क्रियायें समझ लेता है । लोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि वे दर्शक तथा अभिनय के संबंध की व्याख्या नहीं करते ।

(ख) शंकुक का अनुमितिवाद :

शंकुक ने रस को अनुमान का विषय माना है । उनका कथन है कि रंगमंच पर अभिनय - कुशल नट को मूल पात्र का अभिनय करते देख दर्शक आनन्दित हो जाते हैं और नट को मूल पात्र से अभिन्न समझने लगते हैं ।उनका यह अनुमान "चित्र तुरंग न्याय" पर आश्रित है । जिस प्रकार चित्र में खिंचे हुए वास्तविक तुरंग से भिन्न होने पर भी उसकी प्रतिकृति होने से अभिन्न माना जाता है । उसी तरह राम की भूमिका बाँधने वाला नट भी राम माना जाता है । राम में उत्पन्न होने वाला रस अनुभाव के द्वारा नट में आरोपित किया जाता है और दर्शक अनुमान के द्वारा उसे ग्रहण कर आनंदित हो उठते हैं । आगे के विद्वानों ने इस अनुमानवादी व्याख्या में त्रुटियाँ देखी हैं ।

(ग) भट्टनायक का भुक्तिवाद :

भट्टनायक रस के आनंद को स्वीकार करते हैं । उसके लिए उन्होंने तीन व्यापारों की कल्पना की । वे हैं - अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व ।

अभिधा के द्वारा शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है । भावकता का अर्थ है साधारणीकरण । इस व्यापार के बल पर नाटक में अभिनीत पात्र उसके ऐतिहासिक रूप को खोकर सामान्य व्यक्ति के रूप में ग्रहण किया जाता है । दुष्यंत - शकुन्तला के प्रेम के प्रसंग में दुष्यंत हस्तिनापुर का राजा न होकर एक सामान्य प्रेमी के रूप में गृहीत होता है । भोजकत्व व्यापार के बल पर दर्शक रस का भोग करता है । यह सात्विक भाव के उदय से ही संभव होता है । भोजकत्व व्यापार के बल पर दर्शक रस का आनंद लेता है । यह सात्विक भाव के उदय से ही संभव होता है । भट्टनायक की व्याख्या दर्शक को महत्व देती है ।पर इस व्याख्या पर यही आक्षेप है कि उन्होंने जो भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की, उसके लिए आधार नहीं है ।

(घ) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद :

इन्होंने पहली बार रस के भाव को वासना रूप में स्वीकार किया । रसानुभूति की प्रक्रिया इस प्रकार मानी गयी । उन्होंने चार स्थितियों की कल्पना की । पहली स्थिति में दर्शक रंगमंच पर अभिनय करते हुए व्यक्ति विशेष को देखते हैं । वे यह मानते हैं कि नट राम आदि की वेशभूषा में है या यह राम आदि हैं । रंगमंच पर गीत वाद्यादि के प्रयोग से दर्शक/ प्रेक्षक एक दूसरी अवस्था में आ जाते हैं । इसमें नट दर्शकों कीकल्पना के उदय से सामान्य बन जाते हैं । फिर दर्शक का चित्त उस पात्र में लीन होता है और तीसरी अवस्था में स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगता है और अंत में रसानंद का अनुभव होता है जो चौथी स्थिति है । इसी रसानंद को "ब्रह्मानंद सहोदर" कहा गया है । इस तरह भट्टनायक ने भावकत्व के द्वारा रज और तम का नाश करने पर सत्व गुण की प्रबुद्ध अवस्था में ब्रह्मानंद सदृश्य काव्यानंद की बात कही है । अभिनवगुप्त भी रस को लोकोत्तर मानते हैं ।

तैत्तरीयोपनिषद में ब्रह्म को आनंद या रस माना गया है । मम्मट ने रसास्वाद को पानक रस के समान माना है ।

इस तरह आचार्य भरतमुनि से लेकर अभिनवगुप्त तक लगभग एक सहस्त्राब्दि की कालावधि में काव्यास्वाद एवं काव्यास्वादन की प्रक्रिया का जो गंभीर चिंतन हुआ, उसी की चरम परिणति अभिनवगुप्त की स्थापनाओं में देखी जा सकती है । इन सभी विद्वानों जैसे भरतमुनि, भट्टलोल्लट, शंकुक भट्टनायक आदि की स्थापनाओं का योगदान कम नहीं है ।

(आ) आधुनिक हिंदी साहित्य में रस सिद्धांत का विकास :

हिंदी आलोचना के भव्य भवन का शिलान्यास यद्यपि आचार्य शुक्ल जी से पूर्व ही हो चुका था, तथापि इस भवन को सुदृढ़ बनाने का कार्य आचार्य शुक्ल ने ही किया । उन्हें हिंदी आलोचना के क्षेत्र में युग - प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है । उनसे पूर्व हिंदी आलोचना एक छोटे से पौधे के रूप में थी जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और चिन्तन के जल, वायु और प्रकाश द्वारा विशाल वृक्ष के रूप में परिणत किया। आ॰शुक्ल जी हिंदी के मौलिक और प्रौढ़ समालोचक माने जाते हैं । उन्होंने भारतीय व पाश्चात्य समीक्षात्मक विचार - सरणियों को जीवन मूल्यों के प्रकाश में स्थापित किया है । आचार्य शुक्ल जी ने अपने ग्रंथों में जैसे "हिंदी साहित्य का इतिहास", "चिन्तामणि" (भाग - 1 और 2) , "रस - मीमांसा", "गोस्वामी तुलसीदस", "भ्रमरगीतसार की भूमिका", "जायसी ग्रंथावली की भूमिका", "बुद्धचरित्र की भूमिका" में भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांतों का उल्लेख किया है और अपने मौलिक मत स्थापित किए हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएं प्रस्तुत कि । उनकी सैद्धांतिक आलोचना का स्वरूप चिन्तामणि

भाग -1 के "काव्य में रहस्यवाद-" और "काव्य में अभिव्यंजनावाद" शीर्षक लेखों में मिलता है । उनके "रस मीमांसा" नामक नामक ग्रंथ में भी शुक्ल जी ने रस के बारे में अपने सैद्धांतिक विचार प्रस्तुत किए हैं ।

आ.1. रस सिद्धांत का विकास :

शुक्ल जी ने आलोचना का मानदण्ड भारतीय "रसवाद" को माना है । शुक्ल जी की काव्योचित स्थापनाओं में सबसे महत्वपूर्ण पक्ष "रस" का पुनराख्यान है,जो अंशत: मनोविज्ञान पर और अंशत: उनकी लोकमांगलिक दृष्टि पर आधारित है । मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण जहाँ वे एक ओर व्यक्तिगत मनोविकारों या मनोवेगों के रूप में स्थायी भाव के विश्लेषण से रस विवेचन का आरंभ करते हैं वहीं दूसरी ओर अपने लोकमंगल-वादी दर्शन के अनुरूप उसकी चरम परिणति व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में विलयन - फलत: सत्कर्म प्रवृत्ति मानते हैं ।

भरतमुनि ने भाव शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए जो दो विकल्प - "भवन्तीतिभावा:, उद्भावयन्तीतिभावा:" प्रस्तुत किये थे, उनमें से पहला अद्यतन मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं और दूसरा प्राचीन भारतीय आचार्य । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से "भाव" का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रत्ययबोध, अनुभूति एवं वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ संश्लेष का का नाम है । शुक्ल जी ने व्यावहारिक दृष्टि से स्थायीभाव या भाव को दो कोटियों में वर्गीकृत किया है- सुखात्मक कोटि तथा दुखात्मक कोटि । इन दोनों कोटियों में आने वाले आठ स्थायी भावों की चर्चा उन्होंने की है । स्थायी भाव के अतिरिक्त उन्होंने संचारियों की भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की है । इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव के संबंध में विचार करते हुए शुक्ल जी ने विभाव को काव्य में मुख्य ठहराते

हैं। विभाव पक्ष के व्यापक चित्रण के लिए कल्पना का संबल ग्रहण करना उचित समझते हैं । अनुभाव के अंतर्गत वे केवल आश्रय की चेष्टाएं लेते हैं, आलम्बन की चेष्टाओं को "हाव" के अंतर्गत रखते हैं । जिन भावों को किसी पात्र में प्रकट होता देखकर दर्शक या श्रोता भी उनके जैसा अनुभव कर सकते हैं, उन्हें शुक्ल जी ने प्रधान भाव माना है तथा शेष को संचारी भाव माना है ।

रस की निष्पत्ति प्रक्रिया में शुक्ल जी शास्त्रीय परंपरा से अपना वैलक्षण्य रखते हैं । रस दशा का अभिप्राय शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था से लिया है। व्यक्ति का लोक सामान्य भाव - भूमि पर जा पहुंचना ही हृदय की मुक्तावस्था है । आ॰ शुक्ल ने भरतमुनि तथा पंडित विश्वनाथ का रस निष्पत्ति सिद्धांत अपनाया है किन्तु संस्कृत आचार्यों की रस के स्वरूप और काव्य के उद्देश्य संबंधी धारणा उन्हें मान्य नहीं । वे काव्य का चरम लक्ष्य "आनंद" नहीं मानते । उनके अनुसार क्रोध, भय, जुगुप्सा औरकरुण भाव की अनुभूति आनन्दमय न होकर दुःखात्मक होती है । शुक्ल जी रस की अनुभूति को लौकिक मानते हैं और प्राचीन आचार्यों के रस को "अलौकिक", "ब्रह्मानन्द सहोदर" आदि कहने को औपचारिक विशेषण मात्र मानते हैं ।

काव्य के संबंध में आ॰ शुक्ल की धारणा है कि कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मानव के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है । जगत के कुछ पदार्थों को देखकर भी रसानुभूति होती है और कविता के पढ़ने से भी होती है । यह स्थितितभी उत्पन्न होती है जब कविता का आलम्बन व्यक्ति का अधिक से अधिक परिचित होता है । रस - दशा में पाठक की स्थिति तीन रूपों में व्यक्त होती है ।

1. पाठक का हृदय मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है ।
2. वह पराये के भेदभाव से उपर उठकर काव्य के भाव में ही तन्मय हो जाता है ।
3. किसी अन्य वस्तु व्यापार की उसे अनुभूति नहीं रहती है ।

साधारणीकरण के विषय में उन्होंने माना है कि विभावादि का इस रूप में लाया जाना साधारणीकरण है कि जिससे विभावादि सबके हृदय में समान भाव जगा सकें और रसात्मक बोध उत्पन्न कर सकें । विभावादी में सबसे अधिक बल शुक्ल जी ने आलम्बन के साधारणीकरण पर दिया है । उन्होंने बताया है कि साधारणीकरण आलम्बन "व्यक्ति का नहीं आलम्बनत्व धर्म" का होता है । ग्राहक की प्रतिभा में आलम्बन के रूप में चित्र आता है, वह तो व्यक्ति विशेष का ही होता है । उनकी दृष्टि में इस प्रकार साधारणीकरण "प्रभाव" का होता है । साहित्य दर्पणाकार के प्रभाव में आकर शुक्ल जी ने यह भी माना है कि प्रमाता का आश्रय से तादात्म्य ही साधारणीकरण है ।

शुक्ल जी ने रस की दो कोटियां या श्रेणियां निर्धारित की हैं - उत्तम रस दशा और मध्यम रस दशा । उत्तम रस दशा वह है जहां ग्राहक आश्रय से तादात्म्य उत्पन्न हो सके और मध्यम वह है जहां आश्रय से तादात्म्य लाभ न कर सके ।

प्राचीन आचार्यों की भांति शुक्ल जी के समक्ष रसादर्शों से निर्मित होने वाली रचनाएं ही नहीं थी, ऐसी रचनाएं और प्रवृत्तियां भी थीं, जो रस को विकेन्द्रित करती जा रही थीं । पात्र रस रूढ़ियों से हटते जा रहे थे और ऐसे अनादर्श पात्रों से संकुल साहित्यिक कही जाने वाली कृतियां भी आ रही थीं । रसवाद का संबंध "सामान्य" या "समिष्टि" से ही है - "व्यक्ति" और "विशेष" से नहीं । अतः शुक्ल जी के समक्ष भी प्रश्न था कि या तो वे रसवादी प्रतिमान को अव्याप्त मानें या तो "व्यष्टि" और " "विशेष" का आग्रह मानकर चलने वाली कृतियों को असाहित्यिक घोषित करें । शुक्ल जी का स्पष्ट उत्तर है कि अनुभूति हीन कल्पना का रूप विधान मन का रंजन चाहे करे, पर काव्योचित रमण करने में सर्वथा अशक्त है । इसी

प्रकार उन्होंने "विशेष" या "व्यक्ति वैचित्र्य" का आग्रह रखकर चलने वाली रचना को काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ही कहा है । रस की जगह शीलवैचित्र्य या अन्तःप्रकृति वैचित्र्य को केन्द्रगामी रखने वाली कृतियों से जो समष्टि प्रभाव (Total effect) उत्पन्न होता है उसे तीन भागों में शुक्ल जी ने बाँटा है । §1§ आश्चर्य पूर्ण प्रसादन §2§ आश्चर्यपूर्ण अवसादन तथा §3§ कुतूहल मात्र ।

इस प्रकार शुक्ल जी के अनुसार हृदय की मुक्तावस्था एक अवदात स्थिति है जो लोक मंगलोचित कर्तव्य में पर्यवसित होती है । यह अवस्था ही रसात्मक मनोवृत्ति है - यह सुखात्मक भी हो सकती है या दुःखात्मक भी ।

आ·2· आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी :

वाजपेयी जी ने हिंदी आलोचना में अपने स्वच्छंद विचारों के साथ पदार्पण किया । शुक्ल जी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि की सर्वांगीण आलोचना करके हिंदी आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित अवश्य किया था परन्तु उनकी नैतिकता कीकसौटी पर सभी काव्य कसे नहीं जा सकते । इसीलिए वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की दृष्टि को छायावादी काव्य के संदर्भ में अनुपयुक्त माना । उनका कथन था कि अपने पूर्वाग्रह और द्विवेदीयुगीन संस्कारों के कारण शुक्ल जी छायावादी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते हैं । इसके लिए आलोचना की नयी कसौटी होनी चाहिए । डा० भगवत स्वरूप मिश्र ने इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है --"वाजपेयी जी ने शुक्ल जी के प्रबंध काव्यवाद तथा मर्यादावाद के कठोर नियंत्रण से हिंदी समीक्षा को मुक्ति दिलायी ।"

वाजपेयी जी ने रस सिद्धांत की परम्परागत और मौलिक दो प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं । जहाँ तक भट्टलोल्लट की व्याख्या का संबंध

है, उत्पत्तिवादी (नायक के पक्ष से) और आरोपवादी (प्रेक्षक के पक्ष से) दोनों ही प्रकारों के अनुरूप आपत्तियां प्रस्तुत की गई हैं । शंकुक का अनुमितिवादी मत भी ठीक - ठीक ढ़ंग से सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

भट्टनायक द्वारा आविष्कृत "भावना" और "भोग" पर लोगों ने पर्याप्त विचार किये हैं । आ॰ वाजपेयी ने "भावना" या भावकत्व को "भाव" के गुण माने हैं और बताया है कि यह और कुछ नहीं, बल्कि "भावना" करने की सामर्थ्य ही है ।अपने पक्ष के समर्थन में भरत के नाट्य शास्त्र की उस पंक्ति का आशय भी उद्धृत किया है, जिसमें यह कहा गया है कि जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनाये, वही भाव है (काव्यार्थान् भावयन्तिइति भावाः) । साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि काव्यार्थ रस का भावक है । इन उद्धरणों और विवेचनों को जोड़कर यदि आचार्य जी का मन्तव्य स्पष्ट किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि "भावना" एक व्यापार है और वह "भाव" का गुण है ।

वाजपेयी जी ने प्राच्य एवं पाश्चात्य आलोचकों के अध्ययन एवं संतुलन द्वारा साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण किया । पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित होने के कारण वे काव्य को कला मानते हैं, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र उसे कला नहीं मानता । वे रस को "ब्रह्मानंद सहोदर कहने की । परंपरागत मान्यता से भी सहमत नहीं हैं । उनका तर्क है कि रस को ब्रह्मानंद सहोदर कहकर उसकी आड़ में अनेक ऐसे तत्वों का प्रतिपादन किया गया है, जो भारतीय संस्कृति और समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते । उनकी यह भीमान्यता है कि रस - स्थिति को इतना व्यापक रूप प्रदान करना चाहिए कि वह संपूर्ण साहित्यिक समीक्षा का मूल आधार बन सके । रस को केवल वेद्यान्तर स्पर्श शून्य और ब्रह्मानंद सहोदर कहना उसे संकुचित परिधि में बांधना है ।

रस प्रक्रिया से संबद्ध वाजपेयी जी के "साधारणीकरण" संबंधी विवेचन का मूल्यांकन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है -

1. भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धांत केवल काव्य की सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है ।

2. इस प्रसंग में आचार्यों की यह दलील असाहित्यिक ही है कि पूज्य व्यक्तियों या देव के रतिभाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता । जब मूल प्रणेता ने उस भाव की अनुभूति द्वारा उसे प्रस्तुत किया है तो वैसी ही भाव सृष्टि प्रेक्षक या पाठक में क्यों नहीं हो सकेगी ?

3. साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है ।

4. साधारणीकरण वास्तव में कवि - कल्पित समस्त व्यापार का होता है । केवल किसी पात्र विशेष का नहीं ।

वाजपेयी जी की रस विषयक मान्यता से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं । वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही मुख्य मानतेहैं और अभिव्यंजना को गौण मानते हैं ।

(आ.3) डा० नगेन्द्र और रस सिद्धांत :

रस के संबंध में नगेन्द्र जी ने अधिक विस्तृत और मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया । इसे देखकर कुछ लोगों ने उन्हें भ्रमवश फ्रायडवादी आलोचक कहा है । इसमें संदेह नहीं कि फ्रायड के मनोविज्ञान का उन पर प्रभाव है । किन्तु वह स्वयं साध्य न होकर रसवाद के साधन के रूप में सामने आया है। "साकेत" में गुप्त जी ने जिस एकान्त, निष्ठा और मनोयोग से उसकी विरह-

व्यथा का अंकन किया है "साकेत एक अध्ययन में उसी तन्मयता और मनोयोग से डा० नगेन्द्र ने उस व्यथा के सूत्र पकड़े हैं । राम, सीता, लक्ष्मण के वन जाते समय उर्मिला एक शब्द भी नहीं बोलती । उसका मौन उसकी कातरता तथा दयनीयता का एक सूचक है ।डा० नगेन्द्र ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि द्वारा इस स्थिति की संवेदनीयता को सही पकड़ की है --"यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करती, तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती । इसलिए कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है ।"इसी प्रकार कैकेयी का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी अपूर्व है --"युग - युग की लांछिता रानी को भव्य माता के रूप में देखकर कूट-जग आज चकित है ।"

डा० नगेन्द्र ने अपनी दृष्टि "रसवाद" पर केन्द्रित करके भी समसामयिकता से स्वयं को काटा नहीं है । "रसवाद" के प्रति उनका आग्रह उनके "विचार और विश्लेषण" के इन शब्दों से प्रकट है --"साहित्य का चरम मान रस ही है । जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि सौन्दर्य और उपयोगिता शाश्वत तथा सापेक्षित का अर्थ मिट जाता है । अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्या हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है ।"

नगेन्द्र की रसवादी दृष्टि का विशेष- पल्लवन उनके "रस सिद्धांत" नामक ग्रंथ में हुआ है । वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि रस - सिद्धांत उनके लिए कोई "शास्त्रविनोद" नहीं है बल्कि "साधु काव्य निषेवण से निर्मित अंत:संस्कारों की सहज संहिति है । आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने जिस रस सिद्धांत का विकास किया था, उसका पुनर्विकास डा० नगेन्द्र ने अपने सूक्ष्म चिन्तन और गहन अध्ययन के द्वारा किया है । रस सिद्धांत की शक्तिमयता पर उनका इतना अखण्ड विश्वास है कि वे इसके आधार पर प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्यांकन किया जा

सकने की बात कहते हैं । नगेन्द्र की रसवादी धारणा की मुख्य दो विशेषताएं हैं -

1. रस सिद्धांत की व्याख्या में मनोविज्ञान को अपेक्षित महत्त्व प्रदान करना ।

2. संश्लिष्ट काव्य शास्त्र का उन्नयन, जिसमें एक ओर हिंदी तथा अहिंदी भारतीय भाषाओं के काव्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन को अपनाया गया है तथा दूसरी ओर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी पूरा उपयोग किया गया है । इसकी आवश्यकता बताते हुए वे "रस सिद्धांत" में कहते हैं :-

"वर्तमान साहित्य जगत में पाश्चात्य आलोचना के मान - प्रतिमान इतने अधिक रम गए हैं कि आज का साहित्य - मनीषी उन्हीं के माध्यम से चिन्तन और मूल्यांकन करता है ।अत: प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धांतों की यथावत अवधारणा की अपेक्षा उनका नई आलोचना पद्धति से विचार विवेचन करना आवश्यक हो गया है ।"

__(आ.4) आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी :__

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जीनेरस सिद्धांत का विवेचन करते हुए "काव्य की आत्मा और रस की स्थिति" के विषय पर भारतीय काव्यशास्त्र के चिन्तकों के मतों पर विचार किया है । उनका कहना है कि काव्य की आत्मा के संबंध में काव्यशास्त्रियों ने निर्माण की दृष्टि से तो सोचा ही है ग्रहण की दृष्टि से भी विचारा है । पहली दृष्टि से किए गए चिंतन के परिणाम स्वरूप अलंकार, गुण एवं वक्रता के मतवाद आए हैं और दूसरी दृष्टि से होने वाले विचारों की दृष्टि से ध्वनि और रस के वाद उपजे हैं । कतिपय चिंतकों की धारणा है कि अलंकारवादी ~~ही अलंकार की धारणा है कि अलंकारवादी~~ ही अलंकार को सारतत्व नहीं मानते, रीतिवादी भी "काव्यं

ग्राह्यमलंकार:" की सारवत्ता की सहमति प्रकट करते हैं - साथ ही जब वक्रोक्तिवादी भी "वक्रोक्ति" को काव्य जीवित कहकर "वक्रोक्तिरलंकृति:" कहता है -- तब वह भी अलंकार का महत्व मान लेता है । संक्षेप में कहा जाय तो ये तीनों ही "अलंकारवादी" हैं । इसी प्रकार जब ध्वनिवादी भी अन्त: रस ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर लेता है तो वह भी एक प्रकार से रसवादी ही हो जाता है । इस प्रकार कुल मिलाकर दो ही मतवाद ठहरते हैं ।

काव्य की आत्मा के प्रश्न पर सर्वाधिक उभर कर नजदीक आने वाले मतवाद ध्यान देने योग्य हैं - वक्रोक्तिवाद और रसध्वनिवाद । इस संबंध में आनन्दवर्द्धन, कुंतक एवं अभिनव गुप्त के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं ।

काव्य की आत्मा के प्रश्न पर ध्वनिवादियों की चर्चा करते हुए त्रिपाठी जी कहते हैं कि "वास्तव में ध्वनिवादी जब ध्वनित रस को काव्य की आत्मा मानते हैं - पर अध्वनित स्थिति को "रस" की नहीं - तब आत्मा की असर्वव्यापकता खटकती है । इस समस्या को हटाने के लिए एक ही रास्ता शेष है और वह यह कि जिस प्रकार आत्मा की दो भूमिकाएं हैं - निर्गुण एवं सगुण, उसी प्रकार रस की भी दो स्थितियां हैं - एक निर्गुणवत, अव्यक्त और दूसरी व्यक्त और आनन्दकर ।"

जिस कवि के हृदय में रसानुरूप संघटना होगी, उसी से सरस काव्य की विस्फूर्ति होगी । रसात्मक परिणति होगी । अत: सर्वत्र रस की संभावना नहीं हो सकती ।

इस प्रकार "रस सिद्धांत के विकास" में हरिऔध कृत "रस कलश", शुक्ल जी कृत "रस मीमांसा", डा० नगेन्द्र कृत "रस सिद्धांत", डा०आनंद प्रकाश दीक्षित कृत "रस सिद्धांत : स्वरूप और विश्लेषण" जैसी कृतियों का

योगदान रहा है । इन कृतियों के साथ - साथ आ॰श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाब राय, आ॰ नंददुलारे वाजपेयी, आ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ॰विजेंद्र नारायण सिन्हा, डा॰ कृष्ण कुमार शर्मा, श्री योगेश्वर, श्री नरेश आदि के नाम भी प्रासंगिक महत्व रखते हैं । इन विचारकों ने अपने - अपने विचारों से रस आन्दोलन में सहयोग दिया है । अत: व्यावहारिक आलोचना के लिए रस की उपयुक्तता और उसकी सत्ता अधिक महत्वपूर्ण है ।

2· अलंकार संप्रदाय (सिद्धान्त) :

संस्कृत काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों के विकास में अलंकार संप्रदाय का उद्भव एवं विकास चिर प्राचीन है । इस अलंकार संप्रदाय का परिचय प्रथमतः भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है । लेकिन इन्होंने केवल चार अलंकारों की ही अर्थात उपमा, रूपक, दीपक और यमक की ही व्याख्या की है । अत: इस संप्रदाय के प्रवक्ता (प्रवर्तक) के रूप में भामह को ही लिया जाता है जिन्होंने अपने ग्रंथ "काव्यालंकार" में जो छठी शताब्दी में लिखा था जिसमें उन्होंने इस संप्रदाय की विस्तृत व्याख्या की है । भामह ने अपने इस ग्रंथ में काव्य शरीर - निर्णय, अलंकृति - निर्णय, दोष - निर्णय, न्याय निर्णय और शब्दशुद्धि पर विचार किया है । भामह के अनुसार काव्य का प्राण अलंकार है । भामह ने अलंकारों की संख्या 38 निर्धारित की और वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल माना है । भामह के अनुसार "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानन्म्" जिस प्रकार बिना अलंकार के (आभूषण के) सुन्दर नारी का मुख भी शोभित नहीं होता उसी प्रकार काव्य में अलंकार के बिना अच्छा काव्य भी श्रेष्ठ नहीं हो पाता । अत: भामह ने अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकारा है ।

अलंकार संप्रदाय के दूसरे महत्वपूर्ण आचार्य दण्डी (सातवीं शताब्दी) "काव्यादर्श" है । जिन्होंने अलंकार के विवेचन को स्पष्टतया समृद्ध किया ।

दण्डी ने अलंकार को काव्य शोभा का कर्ता धर्म माना है । क्योंकि काव्य की शोभा अलंकार पर ही आश्रित है । अतः अलंकार ही काव्य का सर्वोत्तम धर्म है जैसे उन्होंने कहा है --"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान प्रचक्षते ।" वे अतिशयोक्ति अलंकार को श्रेष्ठ मानते हैं । उन्होंने अलंकारों की संख्या 35 बतायी । दण्डी अलंकार के साथ काव्य में रीति गुण आदि को भी महत्त्व देते हैं ।

तीसरे अलंकारवादी हैं उद्भट (9वीं शती) उद्भट ने भामह के काव्यालंकार की टीका के रूप में "भामह विवरण" नामक ग्रंथ लिखा जिसमें इन्होंने अलंकारों का सूक्ष्म एवं सम्यक् विवेचन किया । उद्भट ने "काव्यालंकार सार - संग्रह" नामक एक और ग्रंथ लिखा । इन्होंने इस ग्रंथ में कुछ और अलंकार जोड़कर अलंकारों की संख्या 41 कर दी ।

भामह के ही काल में लगभग इसी शती में रुद्रट ने "काव्यालंकार" की रचना की । इस ग्रंथ में रुद्रट ने अलंकारों का वर्गीकरण किया और उनकी संख्या 50 से भी अधिक बतायी । रुद्रट ने काव्य में रस, भाव, गुणादि को अलंकार मानने से विरोध किया ।

अलंकार संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हैं वामन जिनका अलंकार शास्त्र के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है । उनकी मान्यता है कि -

"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्
सौन्दर्यमलङ्कार ।।"

वे अलंकारों के द्वारा ही काव्य को ग्राह्य मानते हैं तथा सौंदर्य ही अलंकार है । वामन की एक विशेषता यह भी है कि वे गुण को काव्य का

नित्यधर्म मानते हैं तथा अलंकारों को सहायक तत्व । वामन अलंकारवादी आचार्य तो थे, किन्तु वे काव्य की आत्मा का पद रीति को देते थे ।

तदुपरान्त 12वीं शती में रुय्यक ने "अलंकार - सर्वस्व" नामक ग्रंथ लिखा और इन्होंने प्राचीन अलंकारिकों के अनुसार काव्य अलंकार को ही प्रधान माना है -

"तदेवमलंकारा एवं काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।"

परवर्ती आचार्यों में दण्डी की मान्यता का समर्थन केवल भोजराज ने किया है, अन्यथा सभी आचार्यों ने वामन की मान्यता के आधार पर विकसित ध्वनिकालीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत "अलंकार का शोभातिशय हेतु वाला स्वरूप ही मान्य किया है ।

इस प्रकार संस्कृत के अर्थात भारतीय काव्य शास्त्र के अलंकार-शास्त्रियों में वाग्भट का "वाग्भटालंकार", जयदेवकृत "चन्द्रलोक" केशवमिश्र का "अलंकार शेखर" और अप्पयदीक्षित कृत "कुवलयानंद" आदि महत्वपूर्ण ग्रंथ है ।

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने अलंकार संप्रदाय का विकास किया । लेकिन इनकी प्रतिभा भामह, दण्डी, वामन आदि से अधिक विकसित न हो सकी ।

अलंकार - संप्रदाय का विकास :

अलंकार - संप्रदाय पर विशेष रूप में विवेचन - विश्लेषण "रीति-काव्य की भूमिका" में डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है ।

जहाँ तक अलंकार - संप्रदाय के आख्यान की बात है, डा० नगेन्द्र ने उसका ऐतिहासिक अनुक्रम में भरतनाट्यशास्त्र से लेकर अपने चिन्तन - काल

तक किसी न किसी रूप में उपस्थापन किया है और माना है कि "अलंकार की परम्परा भी इस परंपरा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है ।"[1] उनकी धारणा है कि आरंभ से इस प्रवाह का संबंध दृश्य काव्य से और उक्ति चमत्कार के प्रवाह का श्रव्यकाव्य से चला आ रहा था । डा० नगेन्द्र ने अलंकार का साम्प्रदायिक विकास करने वालों की मूल मान्यताओं का सूक्ष्मेक्षण भी किया है । उदाहरणार्थ भामह की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि भामह ने अलंकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है । कारण है, अन्य स्त्रोतों का अलंकार रूप में उल्लेख । उनकी दूसरी मान्यता है कि काव्य का प्राण है अलंकार और अलंकार का वक्रोक्ति । तीसरी उल्लेख्यबात है सूक्ष्म, हेतु और लेश को अलंकार की सीमा से बहिष्कृत करना । चौथी बात है शब्दार्थ वैचित्र्य को वक्रोक्ति का स्वरूप मानते हुए अलंकार को उससे एकरूप करना ।

इस प्रकार वे न केवल भिन्न भिन्न अलंकारवादियों की उल्लेख्य मान्यताओं का उपस्थापना ही करते हैं, अपितु उनका पारस्परिक अंतर भी स्पष्ट करते हैं ताकि विकास का पथ स्पष्ट हो सके । उनकी दृष्टि में भामह की अपेक्षा दण्डी स्पष्ट शब्दों में अलंकार को काव्य का शोभाकार धर्म मानते हैं ।

डा० नगेन्द्र के विचारों से यह दृष्टिपात होता है कि वे भी विश्वनाथ महापात्र तथा शुक्ल जी की परंपरा में रसवादी दृष्टिकोण से ही अलंकार की परिभाषा के विषय में सोचते हैं - इसीलिए वे वक्रता को व्यापक और कवित्व को व्याप्त नहीं मानते । वे अलंकारवादियों की तरह यह नहीं मानते हैं कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है । उनकी मान्यता है कि चमत्कार की मांग करने वाली वृत्तियां दो हैं - कुतूहल तथा रमण ।

अलंकार वाद पर विचार करते हुए डा० नगेन्द्र कहते हैं - "भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है । परन्तु इसके लिए अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ़ अलंकारों तक ही सीमित न रख कर सभी प्रकार की वचन वक्रता अथवा उक्ति - रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमें अंतर्भुक्त करना होगा ।" इस प्रकार आख्यान के साथ - साथ पुनराख्यान का भी प्रस्ताव इनकी विवेचनाओं में चलता रहता है ।

"रसानुभूति अलंकार का योग" के संदर्भ में डा० नगेन्द्र रस को कवित्व की अनिवार्य शर्त मानने में आचार्य शुक्ल के साथ हैं, पर कवित्व को चर्वणा - विश्रान्ति में मानने से स्वच्छंद चिन्तकों की भांति प्राक्मध्यकालीन चिन्तक आनन्दवर्धन के साथ हैं और रस का "समन्वित मनोवृत्ति" पर्यवसित रूप स्वीकार करने में वे आई॰ए॰रिचर्ड्स के साथ हैं । उन्होंने स्वीकार किया है कि "रस मन की वह अवस्था है जिसमें" हमारी मनोवृत्तियां अन्वित हो जाती हैं ।"

"अलंकार और अलंकार्य" के विषय पर भी डा० नगेन्द्र ने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य, अर्वाचीन और प्राचीन चिन्तकों को आमने - सामने रखते हुए यह स्थापना की है कि क्रोचे की भांति न तो भारतीय साहित्य शास्त्री और न ही विदेश के साहित्य मनीषी व्यावहारिक धरातल पर भी अलंकार और अलंकार्य के भेद को अस्वीकार करते हैं । भाव, सर्जनात्मक अनुभूति के बीज से रूपाकार जैविक विकास की भांति स्वत: स्फूर्त होता है और काव्य की यही वयस्क प्रक्रिया है ।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार इस विषय में भी डा० नगेन्द्र ने पौरस्त्य और पाश्चात्य आचार्यों के द्वारा निरूपित आधारों का ऐतिहासिक क्रम में उपस्थापना की है और डा० डे प्रभृति पूर्ववर्ती विद्वानों से

इनकी अयुक्तियुक्तता पर सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि दोष आधार - निरूपण में इसलिए है कि स्वयम् अलंकारों का स्वरूप - निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चला । वे कहते है कि अलंकारों का आधार शैली की सीमा को लांघकर वस्तु तक नहीं, अपितु न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक चला गया है । डा० नगेन्द्र न केवल वे अलंकारों की मूल प्रेरणा पर ही विचार करते हैं अपितु व्यावहारिक धरातल पर भी अलंकारों के कुछ मूर्त आधार निर्धारित करते हैं ।

"रीतिकाव्य की भूमिका" के अतिरिक्त अन्यत्र भी डा० नगेन्द्र ने अलंकार पर विचार किया है और वहां अलंकार संबंधी अन्य नूतन दिशाओं का भी उद्घाटन किया है । अलंकार संप्रदाय का जहां एक ओर डा० नगेन्द्र ने शक्त आख्यान किया है वहीं पुनराख्यान की दिशा में भी कुछ बातें कहीं हैं और अलंकार संबंधी चिन्तन को गति दी है ।

अ०। अलंकार सिद्धांत और वाजपेयी जी :

वाजपेयी जी का अलंकार संबंधी दृष्टिकोण यह है कि अलंकार काव्य के लिए आवश्यक नहीं है उनका कथन है " कविता अपने उच्चतम स्तर पर पहुंचकर अलंकार विहीन हो जाती है । कविता जिस स्तर पर पहुंचकर अलंकार विहीन हो जाती है वहां वह वेगवती नदी की भांति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तंभित कर देती है । उस समय उसके प्रवाह में अलंकार ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहां बह जाते हैं और सारे संप्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं ।" वाजपेयी जी के अनुसार ऐसी उच्च स्तरीय कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी । इससे प्रकट है कि वाजपेयी जी काव्य में अनुभूति को प्रधानता देते हैं, अभिव्यक्ति को नहीं । उनकी समीक्षा पद्धति का निर्माण भारतीय और पाश्चात्य दोनों विचार

धाराओं के समन्वय से हुआ है । इसीलिए उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा है, "पिछले पचास वर्षों से हिंदी साहित्य की जो मर्यादा बन गयी है उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न देंगे ।" वे अतिवादों से बचतेहुए भारतीय साहित्य शास्त्र की मान्यताओं को समुन्नत और व्यापक बनाना चाहते हैं ।

वाजपेयी जी ने "सौन्दर्यपरक" अर्थ को व्यापक और अभिव्यक्ति-प्रणाली परक अर्थ को तथा समाहित-कल्पनाकृत रूप सृष्टि को सीमित अर्थ में अलंकार कहा है । Image making faculty के रूप में पश्चिमी दृष्टि कल्पना का कार्य केवल रूप सृष्टि मान सकती है और उसी दृष्टि से वाजपेयी जी की इस उक्ति की भी सार्थकता है ।

3. रीति संप्रदाय :

आ.वामन ने रीति संप्रदाय का उद्भव और विकास किया । लेकिन यह उनका नवीन सिद्धांत नहीं कहा जाता।इनसे पूर्व भी कई आचार्यों ने रीति के बारे में विचार किया था । जैसे भरत, दण्डी, भामह आदि आचार्य ।

लक्षण ग्रंथों में प्रयुक्त "रीति" शब्द "रीङ्.गतौ" धातु से निष्पन्न हुआ है । रीति शब्द का अर्थ - ढंग , शैली, प्रकार, मार्ग तथा प्रणाली है । भोजराज ने "सरस्वती - कंठाभरण" में रीति शब्द को "मार्ग" का पर्यायवाची माना है - वैदर्भीकृत: पन्था: मार्ग इति स्मृत: । रीति शब्द की एक व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है - रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यछनेयेति करणसाधनोऽयं रीति: शब्द: मार्गपर्याय: ।"

उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर भी रीति शब्द "मार्ग" का पर्याय सिद्ध होता है । इस प्रकार "रीति" तत्व काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है ।

"काव्यालंकार - सूत्र" के रचयिता वामन ने रीति को अत्यधिक महत्व दिया है । उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है । "विशिष्ट पद रचना रीति" के द्वारा काव्य में पदों की विशिष्ट पद या शब्दों की रचना ही रीति मानते हैं । इसके संबंध में उन्होंने कहा है "विशेषो गुणात्मा अर्थात शब्द रचना या पद रचना की विशेषता है उसमें गुण होना अर्थात गुण काव्य की शोभा बढ़ाते हैं । गुण ही काव्य के उत्कृष्ट तत्व हैं । अत: वामन रीति को "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर काव्य की आत्मा माना है । वामन के अनुसार गुण का तात्पर्य है -अलंकार, रस, शब्द शक्ति आदि । वामन काव्य का समस्त सौंदर्य रीति ही मानते हैं । वामन ने "रीति" नाम का अत्यधिक प्रचलन किया और रीति के भेदों {प्रकारों} में वैदर्भी और गौड़ी के अतिरिक्त एक और भेद पांचाली को भी जोड़ दिया है जो वामन की मौलिकता का उदाहरण है । वामन के अनुसार काव्य में प्रथम रीति अर्थात वैदर्भ रीति सर्व गुण संपन्न होती है। यह दोषरहित और चमत्कारपूर्ण होती है । दूसरी रीति जो गौड़ीय रीति है {ओज} कान्तिमयी होती है और समास का बहुत प्रयोग होता है । तीसरी रीति अर्थात पांचाली रीति में मधुरता और सुकुमारता की मात्रा भरपूर होती है ।

वामन के पश्चात रुद्रट, कुंतक, आनंदवर्द्धन, भोजराज, राजशेखर आदि आचार्यों ने रीति संप्रदाय का विवेचन किया है । रुद्रट ने चौथी रीति "लाटी" को भी स्वीकार किया । उन्होंने समास के आधार पर ही रीति की विवेचना की है । उनके अनुसार काव्य में जहाँ समास बिलकुल न हो वह वैदर्भी, जहाँ लघु हो वह पांचाली, जहाँ मध्य समास और दीर्घ समास हो वह लाटी या गौड़ी रीति के अंतर्गत आते हैं । इस लाटी रीति के प्रयोग के अलावा रुद्रट ने रस और रीति की भी विवेचना की है । उनके विचारानुसार वैदर्भी और पांचली रीति श्रृंगार और करुण प्रेयस रस में तथा गौड़ी रीति रौद्र भयानक व वीर रस में होनी चाहिए । यहाँ पर रीति में वृत्ति की भावना का समावेश होने के कारण रुद्रट ने यह विवेचना

की है । 9वीं शती में आ॰राजशेखर ने पूर्व विवेचना को अधिक व्यवस्थित ढंग में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । उन्होंने रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति के अंतर को स्पष्ट किया है । "वेष - विन्यास क्रम: प्रवृत्ति, विलास - विन्यास क्रमों वृत्ति:, वचन - विन्यास क्रमो रीति:" कहकर राजशेखर ने प्रवृत्ति को वेश विन्यास का प्रकार, वृत्ति को विलास - विन्यास का प्रकार तथा रीति को वचन विन्यास का प्रकार कहा है । रीति का संबंध उन्होंने भाषा एवं बोलचाल आदि से जोड़ा है । राजशेखर ने रीति के भेदों के अंतर्गत वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली को ही महत्व दिया है बल्कि रूद्रट के लाटी को नहीं। इनके मतानुसार वैदर्भी रीति समासयुक्त, पांचाली अल्पसमास तथा गौड़ी दीर्घ समाज की होनी चाहिए ।

दसवीं शती के "वक्रोक्तिजीवितम" के लेखक आचार्य कुंतक ने "रीति" की परिभाषा में अत्यधिक महत्वपूर्ण मोड़ लाया है । जिससे रीति संप्रदाय और संपूर्ण हुआ है । राजशेखर तक रीति का संबंध देश - प्रदेश विशेष से माना जाता रहा था जिसे कुंतक ने उचित नहीं समझा । इसलिए कि रीति पर देश काल पालन आदि का प्रभाव होता है। अत: इन्होंने रीति को कवि स्वभाव से संबंधित सिद्ध किया । अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वामन की आलोचना की जिन्होंने विदर्भ देशों से वैदर्भी का, गौड़ देशीय कवियों से गौड़ी का संबंध जोड़ा है । अत: कुंतक ने कवि स्वभाव के अनुसार रीति के विभिन्न भेदों का वर्गिकरण नई पद्धति से किया - 1॰ सुकुमार मार्ग 2॰विचित्र मार्ग 3॰ मध्य मार्ग जो सरल शैली , चमत्कार शैली और समन्वित शैली से संबंध रखते हैं । इन्होंने प्रथम दो मार्गों के अंतर्गत चार गुणों की स्थापना की - माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य । कुंतक का यह रीति भेद सहजता और अलंकारों पर आधारित है । कुंतक ने इस प्रकार रीति को सहज और स्वाभाविक रूप से विवेचित किया है ।

परवर्ती आचार्यों ने कुंतक की इन मान्यताओं की उपेक्षा की जिससे कुंतक द्वारा प्रतिष्ठित इन मार्गों का प्रचलन नहीं हो सका । ग्यारहवीं शताब्दी में भोजराज ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी के अतिरिक्त आवन्तिका और माधवी नाम के दो नये भेदों की कल्पना करके रीति के भेदों की संख्या 6 कर दी । तदुपरान्त वामन ने प्रथम तीन भेदों को ही स्वीकार किया । "ध्वन्यालोक" के रचयिता आ॰आनन्दवर्धन ने रीति पर विचार करते हुए कहा कि रीति पर विचार करते हुए कहा कि "वाक्य वाचक चारुत्व हेतु:" अर्थात रीति शब्द और अर्थ में सौंदर्य का विधान करती है । क्योंकि इन्होंने रस के साथ भी रीति का विशेष संबंध माना है । आचार्य विश्वनाथ "पदसंघटना रीति" कहकर रीति और रस में सामंजस्य स्थापित करते हैं । "रसगंगाधर" के लेखक पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रीतियों का उल्लेख किया है ।

रीति - विवेचना की परंपरा ।। - 12 वीं शती तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुन्तक, राजशेखर, भोज आदि आचार्य रीति संप्रदाय के अनुयायी नहीं थे फिर भी उन्होंने अपने ग्रंथों में रीति विवेचना को स्थान दिया है ।

यदि रीति के आधार-भूत तत्वों पर विचार करें तोयह दृष्टि-गोचर होता है कि रीति के लिए महत्वपूर्ण गुण ही नहीं है अपितु दोष और अलंकार भी इस सिद्धांत के महत्वपूर्ण अंगहैं :-

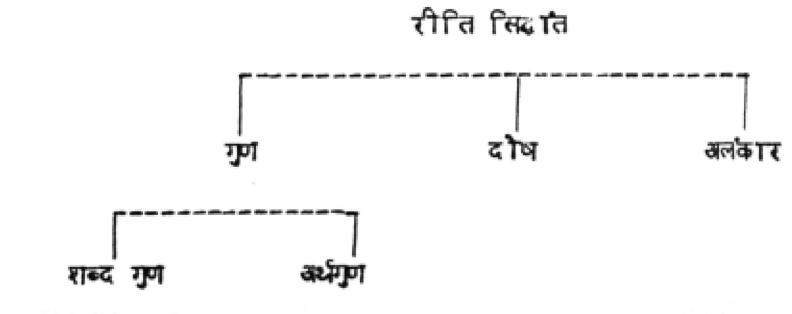

§1§ गुण :

कई आचार्यों ने इसके बारे में चर्चा की है । लेकिन सबसे अधिक महत्व वामन को ही दिया जाता है ।वामन ने गुणों के अंतर्गत शब्द गुण और अर्थ गुण का विभाजन किया । इनकी संख्या दस - दस बतायी गई । अर्थात 10 शब्द गुण और दस अर्थ गुण ।

शब्द गुण के अंतर्गत ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य सौकुमार्यम , उदारता, अर्थ - व्यक्ति और कान्ति । जो दस शब्दगुण हैं उन्हीं को वामन ने अर्थ गुण माना है । संख्या और नाम में कोई अंतर नहीं माना है । लेकिन व्याख्या दूसरे ढंग से की गई है ।

§2§ दोष :

वामन से पूर्व भरत, भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने काव्यगत दोषों की चर्चा की है । वामन ने गुण का विपर्यय ही दोष कहते हुए कहा है कि "गुण विपर्ययात्मानो दोषः"

जिस प्रकार गुण की संख्या निर्धारण के बारे में आचार्यों में मतभेद है उसी प्रकार दोषों की संख्या में भी भेदभाव है । इन दोषों को वामन ने चार वर्गों में बांटा है - 1· पद दोष, 2· पदार्थ दोष, 3· वाक्य दोष 4· वाक्यार्थ दोष । वामन का यह वर्गीकरण स्पष्ट और महत्वपूर्ण माना जाता है । गुण विवेचन से भी अत्यधिक संगत उनका दोष - विवेचन माना जाता है ।

3· अलंकार :

वामन ने स्पष्ट किया है कि "काव्यं ग्राह्य-मलंकारात । सौंदर्य मलंकारः ।"काव्य में सौंदर्य दोषों के अभाव व गुण और अलंकारों के संयोग से

बनता है । वामन ने अलंकारों के वर्गीकरण में पूर्व परंपरा का अनुस-रण करते हुए संख्या एवं नये वर्गीकरण में परिवर्तन किया है । अलंकारों में प्रधानत: शब्द और अर्थ में विभाजित करते हुए शब्दालंकारों में केवल यमक और अनुप्रास को ही मान्यता दी और अर्थालंकारों की संख्या लगभग 29 बतायी है । यह वर्गीकरण भी वामन की मौलिकता को सिद्ध करता है ।

11• रीति के प्रकार :

रीति के भेदों के बारे में पहले जो चर्चा की गई थी उसके अनुसार वामन ने इसके तीन प्रकार माने हैं :-

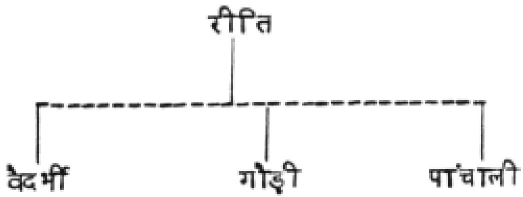

वामन ने "समग्रगुणा वैदर्भी" कहकर वैदर्भी को श्रेष्ठतम गुण माना है । गौड़ी में उन्होंने ओज और कान्ति के गुण और पांचाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य के गुण माने हैं ।

लेकिन वामन का यह विवेचन केवल भौगोलिक प्रदेशों पर आधारित है । देशों के काव्य - शैलियों से, सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों से हम रीति का विवेचन नहीं कर सकते । अत: इस रीति के प्रकार विवेचन में वामन को सफलता नहीं मिली । इसलिए आगे चलकर कुंतक ने इन तीन भेदों के स्थान पर अलग नामकरण किया है वे हैं - सुकुमार मार्ग, विचित्रमार्ग तथा मध्यम मार्ग जो अधिक मान्य हैं।

यदि अंत में वामन और रीति संप्रदाय की सार्थकता के बारे में विचार करें तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने एक नये संप्रदाय का प्रवर्तन किया । उनकी रीति काव्य की आत्मा बन पाने में असमर्थ रही लेकिन उनकी रीति का काव्य से कुछ न कुछ संबंध अवश्य रहा । काव्य के विचार-पक्ष को संप्रेषित करना रीति या शैली का कार्य है । उत्तम शैली कवि या लेखक की अनुभूतियों को कलात्मकता प्रदान करती है और उसके सौन्दर्य की वृद्धि करती है । अतः अपने स्थान पर उसका महत्व अपेक्षित है ।

रीति संप्रदाय का विकास :

डा० नगेन्द्र ने रीतिमत पर "रीति काव्य की भूमिका" के अलावा "हिंदी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति" की भूमिका में अपने विचार प्रस्तुत किए है ।

निस्संदेह "रीति" का जितना विस्तृत व्याख्यान डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, उतना न तो उनके पूर्व किसी ने प्रस्तुत किया, उतना न तो उनके पूर्व किसी ने किया था । रीति - संबंधी उनका सारा विवेचन , संस्कृत तथा पश्चिमी साहित्य शास्त्र और हिंदी रीति ग्रंथों के साक्ष्य पर ऐतिहासिक और दैशिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है लेकिन केन्द्र में वामन अवश्य हैं ।

वामन द्वारा प्रदत्त काव्य की परिभाषा का परीक्षण उन्होंने न केवल देहवादी तथा आत्मवादी भारतीय साहित्य शास्त्रियों के संदर्भ में ही परीक्षित किया अपितु प्रसंगात क्रोचे जैसे पश्चिमी कलादार्शनिकों की काव्य - संबंधी मान्यता को भी रखा और बताया कि आत्मवादी जहाँ अंतरंग धर्मों पर बल देते हैं वहाँ देहवादी बहिरंग धर्मों पर ।

जब वे वामन सम्मत काव्य की आत्मा पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं तब उन्हें लगता है कि वामन "रीति" और "वस्तु" में "रीतिरात्मा काव्यस्य"

कहकर "रीति" को ही महत्व देते हैं । इस संबंध में डाक्टर साहब के विचार वामन की स्थिति को व्यक्त करते हैं । वे कहते हैं कि वामन का दृष्टिकोण अव्यक्तिगत होने से व्यक्तिवादी नहीं बन सकता, वस्तुवादियों से भी वे इसलिए भिन्न हो गये हैं कि "रीति" को वस्तु की अपेक्षा अधिक महत्ता दी । वामन अभिव्यंजनावादियों की भांति वस्तु की सत्ता और महत्व से इनकार नहीं करते । साथ ही वे दोनों का समान महत्व भी नहीं स्वीकार करते । इस प्रकार उनकी स्थिति अभिव्यंजनावादियों और समन्वयवादियों की मध्यवर्तिनी है ।

वामन रीति को महत्व गुणवत्ता के कारण देते हैं । इस संबंध में डा० नगेन्द्र का निष्कर्ष इसके विपरीत है । वे कहते हैं "गुण के अर्थगुण और शब्दगुण ये दो भेद कर और कांति रस दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्व दोनों अंगीकार किये हैं । फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्व रीति का ही है जिसके बिना अर्थगुण संपदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता ।"

रीति और शैली की एकरूपता और विरूपता की समस्या को लेकर डा० नगेन्द्र ने जो स्थापना की है, वह इस प्रकार है । शैली के दो मूल तत्व हैं, वस्तु तत्व और व्यक्तितत्व । इन दोनों पक्षों से विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने डा० डे के इस वक्तव्य से कि रीति और शैली दोनों में उक्त दोनों तत्वों के आधार पर सर्वथा भेद है और अपनी असहमति व्यक्त की है । वस्तुतत्व की दृष्टि से तो भेद मानना वे अनावश्यक मानते ही हैं , व्यक्तितत्व की दृष्टि से भी उतना महत्वपूर्ण नहीं मानते । साथ ही वे यह स्वी-कार करते हैं कि इधर "शैली" में व्यक्तितत्व का समावेश जितना हुआ है उतना रीति तत्व में नहीं था अर्थात व्यक्तितत्व के समावेश में मात्रात्मक भेद है, आत्यन्तिक नहीं ।

डा० नगेन्द्र ने रीति - सिद्धांत के अंतर्गत गुण - संख्या, गुणऔर रीति, रीति प्रकार तथा दोष का भी व्यापक पीठिका पर विचार किया है । गुण की भांति दोष की भी मनोविज्ञान पीठिका पर रिचार्ड्स - सम्मत रसानुभूति के अनुरूप पुनराख्यान की संभावना भी स्थापित की है ।

वाजपेयी जी के अनुसार रीति संप्रदाय भी अलंकार का ही एक अंग है । रीतियों की संख्या के विकास और ह्रास के कारणों पर अनुमान करते हुए वाजपेयी जी ने जो तर्क दिये हैं, वे उनके मौलिक चिन्तन का ज्वलंत प्रमाण हैं । उन्होंने कहा है कि वामन ने नये - नये नाम साहित्यिक शैलियों के लिए चलाये और उन्हीं की देखा देखी रुद्रट एवं भोज ने भी नये-नये प्रान्तीय नामों से अभिहित कर रीतियों की संख्या बढ़ा दी । वाजपेयी जी के अनुसार रीति और अलंकार संप्रदाय के बीच किसी समय स्पर्द्धा रही होगी । रीतिवादियों ने गुण को काव्य का अनिवार्य और प्राथमिक शोभदायक धर्म माना और अलंकार को आनुषंगिक उत्कर्षाधायक धर्म बताया ।

4. ध्वनि संप्रदाय :

भारतीय काव्य शास्त्र में ध्वनि संप्रदाय अपनी जगह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संप्रदाय है । जिस प्रकार रस, रीति संप्रदायों ने स्वयं को काव्य की आत्मा मानने की, साबित करने की कोशिश की है उसी प्रकार ध्वनि संप्रदाय के प्रवक्ता आनंद वर्धन ने भी अपने "ध्वन्यालोक" में कहा है -"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य: समाम्नातपूर्व:"

ध्वनि संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का संबंध शब्द शक्तियों से है । जिस प्रकार शब्द के अलग - अलग वर्णों के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार अभिधा या लक्षणा के द्वारा भी संपूर्ण अर्थ और विशेष रूप से मार्मिक अर्थ कीअभिव्यक्ति नहीं

होती । यह मार्मिक अर्थ व्यंजना के द्वारा प्राप्त होता है । अभिधा और लक्षणा के उपरान्त व्यंजना से ध्वनित होने वाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है । ध्वन्यालोककार ने कहा कि "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ । व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।" अर्थात ध्वनिकाव्य वह विशिष्ट प्रकार का काव्य है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाये हुए उस अर्थ को अभिव्यक्तकरते हैं जो काव्य का परम रहस्य है । अतः यह विशिष्ट प्रकार ही उत्तम काव्य है । इस प्रकार ध्वनि का संबंध व्यंजना शक्ति से है । ध्वनि सिद्धांत को पूर्ण रूप से अध्ययन करने के पहले शब्द शक्तियों का थोड़ा ज्ञान प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा । अतः ध्वनि के स्वरूप को समझाने के लिए शब्द शक्ति का विश्लेषण आवश्यक है ।

विभिन्न विद्वानों ने इन शब्द शक्तियों की गणना विभिन्न प्रकार से की है जो कुल मिलाकर 6 - 7 बताये गये हैं । इन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :-

1. ध्वनि से संबंध	1. अभिधा
	2. लक्षणा
	3. व्यंजना
2. वाक्य से संबंध	1. तात्पर्य
3. काव्य से संबंध	1. रसना
	2. भावना
	3. भोग

हम यहाँ ध्वनि संप्रदाय व सिद्धांत का विश्लेषण कर रहे हैं अतः यहाँ हमें ध्वनि से संबंधित तीन शब्द शक्तियों से ही तात्पर्य है, वे हैं :-

1. अभिधा :

शब्द की जिस शक्ति के कारण उससे सीधा संबंध रखनेवाला अर्थ प्रकट होता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं । जैसे नदी, पर्वत, किताब पाठशाला आदि । इन शब्दों के उच्चारणसे ही उन वस्तुओं का सीधा अर्थ बोध होता है । यही अभिधा शक्ति है ।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन शब्दों का अर्थ व्यक्त होता है, वे तीन प्रकार के हैं :- 1. रूढ़ 2. यौगिक 3. योगरूढ़

1. रूढ़ :

रूढ़ शब्द वे हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति न हो सके: जैसे - गद्, घर तरु, चन्द्र, घोड़ा, पशु आदि ।

2. यौगिक :

वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है अर्थात जो प्रकृति और प्रत्यय के योग से बनते हैं । उनमें अवयवार्थ सहित समुदाय का भी अर्थ बोध होता है, जैसे - तरुजीवी, पशुतुल्य, नरपति, घटक आदि ।

3. योगरूढ़ :

ये यौगिक होते हुए भी अर्थ रूढ़ होता है । कहने का मतलब है कि प्रकृति और प्रत्यय का अलग - अलग अर्थ तो निकलता है पर उससे वास्तविक अर्थ के बजाय एक विशिष्ट अर्थ निकलता है जैसे पंकज, गिरिधर, चक्रधर, चन्द्रमौली आदि ।

अभिधा शक्ति को मुख्या या अग्रिमा भी कहते हैं क्योंकि किसी भी वस्तु के मुख्य या प्रथम अर्थ का बोध कराने की शक्ति अभिधा में है । भट्टनायक आदि अभिधा को विशेष महत्व देते हैं ।

2. लक्षणा :

अभिधा के अनंतर दूसरी महत्वपूर्ण शब्द शक्ति लक्षणा है। इसकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा या व्याघात के होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के सहारे, उससे संबंधित, जहाँ पर अन्य अर्थ लक्षित होता है, वहाँ पर लक्षणा शक्ति काम करती है।" इस परिभाषा को समझने के लिए इसके तीन भेद किये गये हैं :-

1. मुख्यार्थ या वाच्यार्थ की बाधा :

मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से तात्पर्य है उसके अभिधा अर्थ से। जहाँ लक्षणा शक्ति होती है, वहाँ उपर्युक्त दो अर्थ लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए यदि किसी मनुष्य के लिए कहा जाय कि "वह गधा है" तो गधे शब्द का सामान्य प्रचलित अर्थ लागू नहीं होगा।

2. रूढ़ि या प्रयोजन :

लक्षणा का दूसरा लक्षण यह है कि वह भिन्न अर्थ जो कि लागू होता है बिल्कुल ऊपर से थोपा हुआ भी नहीं होना चाहिए, उसका वाच्यार्थ से कोई न कोई संबंध अवश्य होना चाहिए। जैसे, गधे, को सामान्यत: मूर्ख समझा जाता है, अत: इसी संबंध से गधे का अर्थ भी मूर्ख कर लिया गया है।

3. उससे संबंधित अन्य अर्थ :

लक्षणा में भिन्न अर्थ का प्रयोग दो कारणों से होता है - या तो परंपरा निर्वाह के कारण या फिर किसी विशेष प्रयोजन से। उदाहरण के लिए - जंगल जाना, नित्य कर्म, हरिजन आदि शब्द परंपरा - निर्वाह को सूचित करते हैं तो गरीब की कुटिया, चरण - सेवक आदि विशेष प्रयोजन को प्रकट करते हैं। अत: इस प्रकार ऊपर दिये गये तीन भेदों के कारण अभिधा और लक्षणा में अंतर किया जाता है।

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो - दो भेद किये गये हैं - वे हैं - §1§ रूढ़ि, रूढ़िमति और रूढ़िमूला §2§ प्रयोजन वती, प्रयोजन मूला, स्वारसिका और फललक्षणा ।

3. <u>व्यंजना :</u>

अभिधा और लक्षणा से भिन्न अर्थ - शक्ति को व्यंजना कहा जाता है । व्यंजना का शब्दार्थ है विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना या विकसित करना । साहित्य - दर्पणाकार के शब्दों में "अपना - अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शांत होने पर जिससे अन्य अर्थ बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है ।

यदि एक उदाहरण द्वारा इसको समझें तो और भी सरल होगा - "गंगा में गांव" इसका अर्थ देने में अभिधा असमर्थ है, क्योंकि गंगा में गांव नहीं हो सकता, दूसरा अर्थ लक्षणा से है वह है गंगा के समीप गांव, परन्तु इसके बाद भी इसका अर्थ पूर्ण नहीं गोचर होता है । व्यंजना शक्ति से इसका अर्थ निकलता है "पवित्र, शीतल गांव" । यह अर्थ व्यंजना शक्ति द्वारा ही स्पष्ट है । यह एक और बात ध्यान देने की यह है कि व्यंजना द्वारा प्रकट यह अर्थ अभिधाशक्ति से अनेकार्थी शब्दों द्वारा निकलने वाले अर्थ से भिन्न है । शब्द और अर्थ दोनों ही का व्यापार व्यंजना में रहता है, इस कारण व्यंजना के दो रूप हैं शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना ।

व्यंजना के भेद

- शाब्दी व्यंजना
  - अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना
  - लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना
- आर्थी व्यंजना

जहाँ पर शब्द विशेष के कारण व्यंग्यार्थ निकलता है और उस शब्द के स्थान पर अन्य शब्द रखने से अर्थ न निकले वहाँ पर शाब्दी व्यंजना माननी चाहिए । अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना से तात्पर्य है अभिधा शक्ति द्वारा अनेकार्थी शब्द में एक अर्थ निश्चित हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञात होता है वही अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना शक्ति है । जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणा शक्ति से अन्य अर्थ निकलता है, लेकिन उसके बाद भीदूसरा अर्थ प्राप्त होता है वहाँ पर लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना होती है । आर्थी व्यंजना से तात्पर्य है, जो शब्द शक्ति वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रकरण, देश, काल,काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, वह आर्थी व्यंजना कही जाती है ।

मुख्यत: इसी व्यंजना शक्ति को ध्वनि संप्रदाय में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है । व्यंजना के द्वारा व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहते हैं । ध्वन्यलोककार आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ में प्रतीयमान अर्थ की भूरि - भूरि प्रशंसा करते हुए उसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है -

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमि वांगनासु ।।
काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा ।
क्रौंच -द्वन्द्व-वियोगीत्था:शोक: श्लोकत्वमागत: ।"

अर्थात "प्रतीयमान {अर्थ} कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों {मुख, नेत्रादि} से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों से भासित होती है । काव्य की आत्मा का वही अर्थ है । इसी से प्राचीन काल में क्रौंच पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया ।" अत: इसमें कोई संदेह नहीं है कि ध्वनि संप्रदाय में व्यंग्यार्थ का कितना अधिक महत्त्व है ।

इस प्रकार ~~शब्द-शक्तियों~~ ध्वनि का संबंध मुख्यत: शब्द शक्तियों से ही है ।इसके उपरान्त हमें ध्वनि की परिभाषा, ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विचार करना उचित होगा ।

ध्वनि शब्द की निष्पत्ति - ध्वन्", धातु, "इ" प्रत्यय के संयोग से हुई है । ध्वनि के कई व्युत्पत्ति - जन्य अर्थ हैं :-

1. ध्वनति य: स: व्यंजक: शब्द: ध्वनि :

   जो ध्वनि करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है ।

2. ध्वनति ध्वनयति वा य: स: व्यंजककोऽर्थ: ध्वनि :

   जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है ।

3. ध्वन्यते इति ध्वनि :

   जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है । इसमें रस, अलंकार और वस्तु व्यंग्यार्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं ।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि :

   जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है । इससे शब्द - अर्थ के व्यापार - व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है ।

5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि :

   जिसमें वस्तु, अलंकार रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनि कहते हैं ।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग भिन्न - भिन्न किन्तु परस्पर संबद्ध पाँच अर्थों में होता है - 1. व्यंजक शब्द 2. व्यंजक अर्थ 3. व्यंग्य अर्थ 4. व्यंजना और व्यंग्य प्रधान काव्य ।

ध्वनिवादियों ने ध्वनि में काव्य के अन्य सभी तत्वों का समाहार कर लिया है । उनके अनुसार रस की भांति गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं । क्योंकि आनन्दवर्द्धन ने असंलक्ष्य - क्रम -व्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत रस और भाव आदि को महत्त्व दिया है । वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है और न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलंकारों का और न रस निष्पत्ति, साधारणीकरण आदि का । यह सब ध्वनि रूप में उपस्थित रहते हैं ।

ध्वनि की परिभाषा करते हुए ध्वन्यालोककार ने लिखा है - जहाँ अर्थ स्वयं की तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि में प्रतीयमान अर्थ तो होता ही है, किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, उस व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना अपेक्षित है ।

§इ§ ध्वनि के भेद :

ध्वनि के प्रधानतः दो भेद और 4 उपभेद किये गये हैं :-

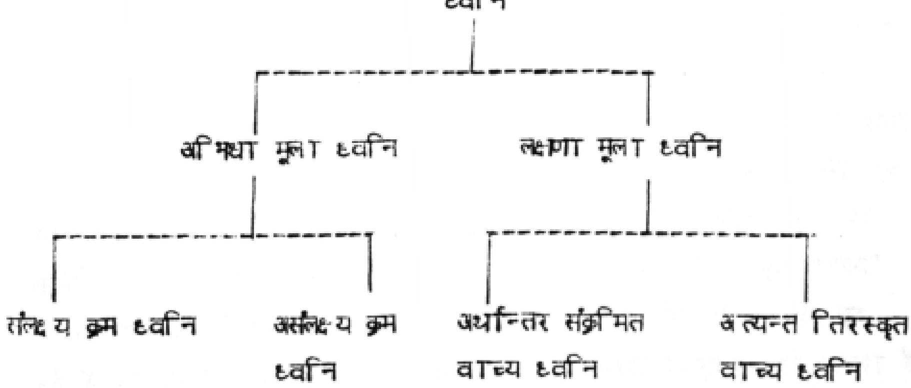

१. अभिधा मूला ध्वनि :

सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है ।जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा हो अर्थात वाच्यार्थ अभीष्ट हो तथा वह व्यंग्य निष्ठ हो वहाँ अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्य - परवाच्य ध्वनि होती है या जिस ध्वनि के मूल में अभिधा होती है वह अभिधामूला ध्वनि कहलाती है । यदि असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम ध्वनियों के बारे में विचार करें तो यह प्रतीत होता है कि जहाँ वाच्यार्थ के साथ - साथ ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है - दोनों के बीच में कोई अंतर प्रतीत नहीं होता वहाँ असंलक्ष्य ध्वनि होती है । लेकिन संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम प्रतीत हो जाता है ।

लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि है जहाँ व्यंग्यार्थ की प्राप्ति में वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन का अभाव रहता है । वहाँ पर अविवक्षित वाच्य ध्वनि होती है । ऐसे स्थलों पर व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है । इसलिए इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं । इसके दो भेदों में प्रथम भेद - जब वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न कर अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि होती है । मम्मट ने इसका लक्षण लिखा है - जब शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण के अनुकूल न होकर अपने विशेष अर्थांतर व्यंग्य में परिणत हो जाता है वहाँ अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है । अर्थांतर संक्रमित वाच्य में वाच्यार्थ थोड़ा - सा अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है, जैसे - "राखी सजी पर कलाई नहीं है ।" यहाँ "कलाई" का व्यंग्यार्थ है भाई की कलाई या वह भाई जिसको राखी बाँधी जा सके । स्पष्ट है कि यहाँ "कलाई" का अर्थ संक्रमित हो गया है । इसके विपरीत दूसरा भेद "अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य" में वाच्यार्थ का बिलकुल तिरस्कार हो जाता है, जैसे "पेट में तो चूहे कूद रहे हैं ।" यहाँ व्यंग्यार्थ में "चूहे" शब्द का अर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है ।

ध्वनि के इन दो प्रधान भेदों के बावजूद इनके कई उपभेद किये गये हैं। जैसे अभिधामूल के असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के पदगत पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत रचानागत, प्रबंधगत तथा संलक्ष्यक्रम ध्वनि के शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन, अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन तथा शब्दार्थोभय शक्ति उद्भव, अनुरणन ध्वनि। इसी प्रकार लक्षणामूला ध्वनि ने कई सैकड़ों भेद किये गये हैं, जो यहाँ अनावश्यक हैं। लेकिन एक और ढंग/ पद्धति से इस ध्वनि का वर्गीकरण भी किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार ध्वनि के तीन भेद होते हैं- 1. रस ध्वनि 2. अलंकार ध्वनि 3. वस्तु ध्वनि। इन तीन ध्वनियों में रस, अलंकार और वस्तु अर्थात तथ्य या विषय की व्यंजना होती है तथा इसमें रस ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

अंत में यदि ध्वनि संप्रदाय के महत्व पर प्रकाश डाला जाय तो यह कहना अनुचित न होगा कि ध्वनि सिद्धांत अपने क्रोड़ में काव्य से संबंध रखने वाले समस्त सिद्धांतों का तत्व समेट लिया। क्योंकि वह रस और अलंकार संप्रदाय को आधार बनाकर ही आगे बढ़ सका। आनंदवर्द्धन के अलावा अभिनवगुप्त, मम्मटादि ने इसे महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ काव्य सिद्धांत के रूप में स्वीकृत किया। लेकिन प्रतिहारेन्दुराज, धनंजय, धनिक, कुन्तक, भट्टनायक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त का विरोध किया।

ध्वनि संप्रदाय में अन्य संप्रदायों की भांति कई त्रुटियां और असंगतियां भी हैं। एक ओर ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं तो दूसरी ओर ध्वनि के पांच अर्थों में प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त ध्वनि के अन्य अवयव भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता, अप्रधानता और शून्यता के आधार पर ही काव्य को उत्तम, मध्यम एवं अधम घोषित कर देना भी ध्वनिवादियों का अतिवाद है।

§ई§ ध्वनि संप्रदाय का विकास :

ध्वनि सिद्धांत पर डा० नगेन्द्र जी ने हिंदी "ध्वन्यालोक" की भूमिका तथा "रीति काव्य की भूमिका" में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

अन्य रसेतर काव्य सिद्धांतों की भांति ध्वनि सिद्धांत का आख्यान भी जिन विभिन्न शीर्षकों में हुआ है, वे हैं, पूर्व वृत्त, ध्वनि का अर्थ और परिभाषा, ध्वनि की प्रेरणा - स्फोट सिद्धांत, ध्वनि की स्थापना, काव्यत्व का अधिवास, ध्वनि के भेद, ध्वनि की व्यापकता, ध्वनि और रस, ध्वनि के अनुसार काव्य के भेद, ध्वनि में अन्य सिद्धांतों/में ध्वनि, उपसंहार, ग्रंथकार तथा ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय।
/अ समाहार, ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, हिन्दी

ध्वनि सिद्धांत अपने मूल रूप में ही इतना ग्राह्य और अद्यावधिक नव्य से नव्यतर काव्य धारा पर चरितार्थ होने वाला सिद्धांत है कि उसमें पुनराख्यान की यों ही कम आवश्यकता है। ध्वनि के संबंध में शुक्ल जी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका संबंध - कुछ दूर का ही सही - हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। शुक्ल जी के इस वक्तव्य में डा० नगेन्द्र का निष्कर्ष संगत लगता है।

डा० नगेन्द्र ने "ध्वनि और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र" शीर्षक विचार प्रवाह के संदर्भ में कहा है कि कवि अपने हृदय का रस हृदयान्तर में संक्रान्त करने के लिए चित्र भाषा का प्रयोग करता है और यह कार्य कवि की कल्पना शक्ति से ही संभव है। ग्राहक जब भाषा से "चित्र" और "चित्र" से भाव तक उलटी यात्रा करता है तब कवि की प्रतिभा या कल्पना का भी साक्षात्कार कर लेता है। डा० नगेन्द्र ने बहुत सुन्दर तथ्य को पकड़ा है। ध्वन्यलोककार आनंद वर्धन ने कहा है -

"सरस्वती स्वादु तदर्थं वस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।"

अर्थात् रस प्रवाही महाकवि की वाणी निहित अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष का प्राकट्य कर देती है । ग्राहक भाषा में निहित क्षमता से कवि की कल्पना का साक्षात्कार कर लेता है । दूसरे की कल्पना का साक्षात्कार करने के लिए स्वयम् में भी कल्पना होनी चाहिए पर इस सुप्त शक्ति को कौन जगाएगा ? उत्तर है कविप्रयुक्त भाषा की क्षमता ही । इस आधार पर डा० नगेन्द्र का निष्कर्ष है कि शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही "रस ध्वनि" कहा है ।

इस प्रकार ध्वनि - सिद्धांत के संबंध में नगेन्द्र जी का अभिमत है कि वह काव्य का एक सार्वभौम सिद्धांत है । इसीलिए वह युग का मान्य रहा है और है ।

ध्वनि सिद्धांत और वाजपेयी जी :

ध्वनि सिद्धांत के उद्भव के मूल में वाजपेयी जी इतना ही स्वीकार करना चाहते हैं कि काव्य में अब तक नाट्य के समक्ष "रस" तत्व की मूर्धन्य स्थिति स्वीकृत नहीं थी । ध्वनि - सिद्धांत के द्वारा एक तरफ काव्य का परम प्रतिपाद्य रस को ठहराया गया, तो दूसरी ओर उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई । इस संबंध में वाजपेयी जी की यह स्थापना है कि आरंभ में ध्वनि सिद्धांत द्वारा काव्य में रस की महत्ता और उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई है ।

वाजपेयी जी कीदूसरी स्थापना यह है कि परवर्ती ध्वनि संप्रदाय के अनुयायियों ने ध्वनि एवं रस की काव्य में व्याप्ति की दृष्टि से तारतम्य का भी विचार आरंभ किया । वाजपेयी जी का कहना है कि ध्वनि की

आपेक्षिक विस्तृत व्याप्ति मानने वाले केवल एक भेद के रूप में रस की स्थिति मानने लगे । इस संप्रदाय के अनुयायियों ने फिर भी "रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्" के द्वारा "रस" की प्रतिष्ठा प्रवाहमय रखी और उसकी व्याप्ति मानने वालों का सर्वथा लोप नहीं हुआ ।

वाजपेयी जी ने अपनी कृति "हिंदी साहित्य - बीसवी शताब्दी" में "निराला" जी पर लिखते हुए कहा कि "प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ है पर इस आग्रह को हम हद के बाहर लिये जा रहे हैं, क्योंकि ध्वनि और अभिधा काव्य वस्तु के भेद नहीं हैं, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं, जो काव्य वस्तु को देखते हुए छोटी चीज है ।" इन विवेचनाओं पर आनन्दवर्धन की छाया दिखाई पड़ती है । "प्रसाद" की "कामायनी" की विवेचना के अवसर पर वाजपेयी जी ने ध्वनि के कतिपय प्रभेदों की भी सोदाहरण विवेचना की है ।

5. औचित्य संप्रदाय :

औचित्य संप्रदाय में काव्य की आत्मा का पद औचित्य को प्राप्त है । जिस प्रकार मानव के जीवन में भी औचित्य महत्वपूर्ण तत्व है । औचित्य की सीमा अति विस्तृत है । क्योंकि प्रत्येक तत्व का जो जिसके अनुरूप है, उसी स्थान पर प्रयोग उचित कहलाता है और उचित का भाव ही औचित्य कहा जाता है -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य चयो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ।।

(औचित्य विचार चर्चा-7)

अर्थात जहाँ पर औचित्य के अनुसार काव्य में कवि कार्य नहीं करता है, वहाँ काव्य उपहासास्पद हो जाता है । काव्य में रस, अलंकार, गुण,

रीति आदि के द्वारा काव्यास्वाद और चमत्कार वहीं मिलता है, जहाँ इनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होता है । रस आदि का अनुचित प्रयोग काव्यास्वाद और काव्य सौंदर्य का घातक होता है । मुनिचन्द्र ने औचित्य के महत्व का आकलन करते हुए लिखा है कि "यदि काव्य में एक ओर औचित्य है तो गुण - समुदाय वहाँ विद्यमान है । यदि औचित्य नहीं है तो दूसरी ओर गुण - समुदाय भी सर्वथा व्यर्थ है ।"

औचित्य संप्रदाय के प्रवर्तक आ.क्षेमेन्द्र माने जाते हैं । वैसे ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ तक भारतीय काव्य - शास्त्र के क्षेत्र में जो संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए थे वे सब "काव्य की आत्मा" संबंधी विवाद को सुलझाने में असफल रहे । ठीक इसी समय आ.क्षेमेन्द्र ने औचित्य की स्थापना करके इस विवाद को सुलझाने में गहरा योग दिया । उन्होंने कहा कि काव्य में रस, गुण, अलंकार आदि सभी का महत्व है, किन्तु उसी अवस्था में जबकि ये सब औचित्य से समन्वित हों । औचित्य के अभाव में ये सभी तत्व व्यर्थ हैं । क्षेमेन्द्र से पूर्व भी कई आचार्यों ने इसकी चर्चा की है । भरत ने नाट्य शास्त्र में स्वाभाविकता के रूप में औचित्य का प्रतिपादन किया है लेकिन उन्होंने "औचित्य" शब्द का प्रयोग नहीं किया । आगे चलकर दण्डी, भामह, वामन, रूद्रट आदि ने यह संकेत दिया कि काव्य में औचित्य का स्थान है । ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन ने औचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या की और उसके छ: प्रकार जैसे रस, अलंकार, गुण, संघटन, प्रबंध, रीति निश्चित किये ।

औचित्य

1. रसौचित्य
2. अलंकारौचित्य
3. गुणौचित्य
4. संघटनौचित्य
5. प्रबंधौचित्य
6. रीति औचित्य

रसौचित्य का संबंध रस से है । काव्य में रस का उचित रूप से प्रतिपादन तब ही संभव है जबकि उसमें रसौचित्य/रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तब ही उससे रस - निष्पत्ति हो सकेगी ।

(है) अर्थात काव्य में रस के विभिन्न अवयवों तथा विरोधी

अलंकारौचित्य का अर्थ है काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में बिना कवि के प्रयत्न से होना चाहिए । यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार कोरे चमत्कार के लिए प्रयुक्त नहीं होना चाहिए ।

गुणौचित्य से तात्पर्य है कि काव्य में विभिन्न गुणों का समन्वय रस के अनुकूल होना चाहिए ।

संघटनौचित्य में संघटना, विभिन्न तत्व, पात्र की प्रकृति, प्रतिपाद्य, काव्य की प्रकृति आदि विषय के अथवा रस के अनुकूल होना चाहिए ।

प्रबंधौचित्य में आनंदवर्धन के अनुसार प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में समानुपात रहना चाहिए, वर्ण्य विषय से दूर न जाना चाहिए, पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिए आदि - आदि ।

रीति - औचित्य में रीति का प्रयोग भी उचित रूप से यानी वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप के अनुकूल करना चाहिए ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनंदवर्धन ने औचित्य का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया था । उनके बाद कुंतक एवं महिम भट्ट ने भीइसका उल्लेख संक्षेप में अपने ग्रंथों में किया । इस तरह औचित्य की परंपरा चली आ रही थी कि क्षेमेन्द्र ने "औचित्य - विचार" लिखकर उसे काव्य का प्राण घोषित किया और साथ ही उसे अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया ।

(अ) औचित्य का लक्षण :

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा - "जो उसके योग्य है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं - उसका भाव औचित्य है ।"

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ।।।

§औचित्य विचार चर्चा-7§

औचित्य संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी लिखा है कि "काव्य में अलंकार और गुण आदि सभी व्यर्थ हैं यदि उसमें काव्य के जीवित औचित्य का निर्वाह नहीं हुआ है §औ - वि -च -4§ उन्होंने और भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "काव्य में अलंकार अलंकार है अर्थात् वे बाह्य शोभादायक तत्व है और गुण भी गुण ही है, किन्तु रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन अथवा आत्मा तो औचित्य ही है -

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

§औचित्य विचार चर्चा-5§

क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य काव्य का एक अनिवार्य तत्व है । यह काव्य के प्रत्येक ढंग में रहना चाहिए क्योंकि जहां पर उसका अभाव होता है, वहीं पर रस भंग का कारण बनता है ।

§आ§ औचित्य के भेद §अंग§ :

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदों की व्यापक चर्चा करते हुए लिखा है कि काव्य के समस्त शरीर में जीवन भूत औचित्य की स्थिति प्रधान रूप से "कई प्रकार की होती है । वे इसके 28 अंग बताये हैं जो इस प्रकार है :- पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार - संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद और काव्य के अन्य विविध अंग । इन 28 तत्वों को सुगमता की दृष्टि से निम्नांकित चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है -

§क§ शब्द :

पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात ।

§ख§ काव्यशास्त्रीय तत्व :

प्रबन्धार्थ, गुण,अलंकार, रस, सार - संग्रह, तत्व, आशीर्वाद, काव्य के अन्य अंग ।

§ग§ चरित्र संबंधी :

व्रत, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम ।

§घ§ परिस्थिति संबंधी :

काल, देश, कुल, अवस्था ।

उपर्युक्त अंगों के पर्यालोचन से पता चलता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की विषय वस्तुऔर उनकी शैली - दोनों में ही औचित्य का विधान किया है ।

आचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को सम्यक रूप से समझने के लिए उनके द्वारा विवेचित औचित्य के कुछ उदाहरणों का अवलोकन करना उचित होगा । पद औचित्य की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं :- सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक । जैसे हे देव । युद्ध के समय तुम्हारी खड्ग धारा में शत्रुओं के कुल डूब गये ।" इस प्रकार की प्रशंसा बहुश: बन्दियों ने सुनकर, भोली गुर्जर - नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है । यहाँ "भोली" शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है ।

इसके विपरीत किसी अनुचित शब्द के प्रयोग से जिस प्रकार काव्य सौन्दर्य को ठेस पहुंचती है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए एक उदाहरण दिया गया है --"सौंदर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया, महान क्लेश उठाया, स्वच्छन्द और सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता के ज्वर से पीड़ित किया । यह बेचारी भी योग्य पति के अभाव में दुखी है । विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था ।" इसकी विवेचना करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि यहाँ "तन्वी" शब्द केवल अनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुआ है, वह किसी प्रकार के अर्थौचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता । उनके विचार से यहाँ "सुंदरी" शब्द का प्रयोग उचित था ।

तत्पश्चात् अलंकारौचित्य के बारे में आचार्यवर ने स्पष्ट किया है कि प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप ही अलंकार का प्रयोग होना चाहिए । उदाहरण के लिए "अपना उत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर वत्सराज कामदेव की भांति इधर ही आ रहे हैं । लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है ।अत: वे प्रेमी प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवासित साक्षात कामदेव के समान लगते हैं ।" यहाँ वत्सराज की कामदेव से उपमा श्रृंगार रस के प्रसंग में बड़ी चारुता उत्पन्न करती है । अत: यह औचित्य चमत्कार का कारण बनता है ।

तीसरे स्थान पर क्षेमेन्द्र जी ने रसौचित्य की व्याख्या करते हुए अनेक महत्वपूर्ण बातें कही हैं । औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है । मधुमास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है, उसी प्रकार यह भी भावुक हृदयों को "अंकुरित कर देता है ।...मधुर तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार श्रृंगार आदि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक विलक्षण रसानुभूति होती है ।

इस तरह क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन सर्वत्र काव्य - सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लक्ष्य से ही किया है - अलंकार, गुण, रस आदि का ऐसा

आयोजन जो काव्यत्व के विरुद्ध पड़ता है, उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया है।

§इ§ क्षेमेन्द्र और परवर्ती आचार्य :

क्षेमेन्द्र के बाद के आचार्यों में से कुछ ने "औचित्य" की चर्चा तो की है किन्तु उन्होंने उसे काव्य का प्राण- तत्व स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण भी दोष या दोष भी गुण बन सकता है - अतः उसके आधार पर गुण- दोषों की हीपरीक्षा की जा सकती है। इससे अधिक उसका महत्व नहीं है.। आ० हेमचन्द्र ने अपने "काव्यानुशासन" में औचित्य की चर्चा गौण रूप से की है। उन्होंने यह बताया है कि पूर्वकवियों का अनुकरण कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित। आगे चलकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसे गुण- दोषों तक ही सीमित रखा।

§उ§ उपसंहार :

अंत में औचित्य संप्रदाय के महत्व के संबंध में हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि काव्य शास्त्र में औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई। एक ओर तो इससे अलंकारियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्ति-वादियों की अति चमत्कारवादी प्रवृत्तियों के नियंत्रण में योग मिला, दूसरी ओर काव्य में स्वाभाविकता को अत्यधिक सम्मान प्राप्त होने लगा। क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अलंकार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायता तो देता ही नहीं, अपितु उसे ठेस भी पहुँचा सकता है। क्षेमेन्द्र ने काव्य रचनाओं में अलंकारों की अपेक्षा में नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

अंत में यह विचारणीय बात है कि क्या औचित्य को काव्य का जीवन या प्राण माना जा सकता है ? क्या औचित्य अपने आप में इतना समर्थ है कि वह काव्य में सौन्दर्य - तत्व की प्रतिष्ठा कर सके ? इन प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक ही होगा । क्योंकि औचित्य मूल सौन्दर्य का स्थानापन्न नहीं बन सकता । औचित्य में अपने - आप में इतना समर्थ नहीं है कि वह काव्य - सौन्दर्य की सृष्टि कर सके ।अत: निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि औचित्य वह तत्व है जो कविता - कामिनी के मुख - चन्द्र को निखारकर निष्कलंक, अम्लान एवं स्वच्छ तो बनाता है, किन्तु उसे ज्योत्स्ना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है ।

§उ§ औचित्य सिद्धांत का विकास :

वाजपेयी जी ने औचित्य के बारे में कहा है कि यह कोई स्वतंत्र संप्रदाय नहीं है, इसमें तो केवल विभिन्न काव्य तत्वों के समन्वय की योजना है । औचित्य संबंधी उनका एक सारगर्भित लेख "साहित्यालोचन" में प्रकाशित हुआ, जिसका सारांश इस प्रकार है -- 1. यह औचित्य संबंधी विवेचन कोई नया सिद्धांत नहीं है, वह तो व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिया हुआ है । 2. औचित्य मत के दो मुख्य आधार हैं - कला संबंधी और नीति संबंधी । 3. औचित्य का नियामक लोक ही नहीं है, काव्य और शास्त्र की भी अलोकोपलब्ध सरणियाँ हो सकती हैं । 4. औचित्य मत पश्चिमी अंग - संगति की अपेक्षा व्यापक है ।

वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि क्षेमेन्द्र अपने औचित्य का विवेचन करने में व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिये हुए हैं । उनकी दृष्टि यहाँ सैद्धांतिक नहीं, व्यावहारिक है और व्यावहारिक होने पर काव्य के समस्त अंग या अंगी औचित्य विचार की दृष्टि से आनन्द और अभिनव की

भांति मूर्द्धन्य मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने "औचित्य" का प्रयोग "रस" पर भी किया है ।

वाजपेयी जी ने प्राचीन और नवीन के सहज सामंजस्य को नया रूप, नया जीवन और नई दिशा देने का सराहनीय कार्य किया है । प्राचीनता से उन्हें विरोध नहीं है और न नवीनता के प्रति व्यामोह| इन दोनों के संयत सम्मिश्रण को उन्होंने साहित्य क्षेत्र में वांछनीय बताया है । आधुनिक काव्य चेतना के लिए उपयुक्त भारतीय काव्य - तत्व उन्होंने नि:संकोच ग्रहण किये हैं । पीटर और एडिसन की विचारधारा को भी उन्होंने अपनाया तथा भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परागत मान्यताओं को भी उपजीव्य बनाकर अपनी समीक्षा पद्धति का विकास किया ।

§6§ वक्रोक्ति संप्रदाय :

वक्रोक्ति का शब्दार्थ है - वक्र + उक्ति = टेढ़ा कथन या टेढ़ी उक्ति । सामान्य रूप में यह शब्द काव्यशास्त्र में भामह के द्वारा प्रयुक्त होता है । भामह ने काव्यालंकार में लोक - व्यवहार से भिन्न अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति माना है, यही नहीं, वे समस्त अलंकारों का मूल भी वक्रोक्ति को मानते हैं ।[2] भामह वक्रोक्ति के अभाव में अलंकारों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते हैं । वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में से माना है और इसको स्वीकार किया है ।[3] दण्डी ने वक्रोक्ति को "सर्वालंकार मूला" कहा है । रूद्रट उक्ति प्रत्युक्ति में वक्रोक्ति अलंकार की सत्ता स्वीकारते हैं । चन्द्रलोककार जयदेव ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है । मम्मट और विश्वनाथ भी वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में मानते हैं ।

वक्रोक्ति -सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ में §वक्रोक्तिजीवितम्§ वैदग्ध्य - भंगी - भणिति" कहकर काव्य निर्माण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण विचित्र कथन वक्रोक्तिहै । कुंतक ने

वक्रोक्ति को विचित्र कथन अर्थात् "विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते" भी कहा है । "विचित्र" का अर्थ स्पष्ट करते हुए कुंतक ने इसके तीन अर्थ स्पष्ट किये हैं -

1. शास्त्र आदि में प्रयुक्त शब्द - अर्थ के साधारण प्रयोग से भिन्न प्रयोग ही विचित्र कथन है ।

2. शब्दार्थ - प्रयोग के प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न कथन ।

3. सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के प्रयोग से भिन्न कथन ।

इन तीनों ही अर्थों का सारांश यह है कि कुंतक का "विचित्र" से अभिप्राय "शास्त्र तथा लोक - व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द - अर्थ की रचना से विलक्षण शब्दार्थ की उक्ति - विचित्रोक्ति अर्थात वक्रोक्ति है ।" यह वक्रोक्ति प्रतिभा - संपन्न कवि के कर्म - कौशल से निर्मित होने पर ही वैचित्र्यपूर्ण होती है ।

कुंतक की वक्रोक्ति का आशय केवल इतना ही नहीं है, वे "सहृदयहृदयाह्लाद - कारिणी" वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं । वक्रोक्ति के इसी गुण पर वे विशेष रूप से रीझे हैं । इसी वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा मानते हैं । कुंतक के मतानुसार "अलंकृत होने पर ही काव्य की काव्यता है - "सालंकारस्य काव्यता" । कुंतक ने अपने काव्य के लक्षण में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है --"काव्य - मर्मज्ञ सहृदयों के आह्लादकारक सुंदर वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं ।"

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी ।।" {2/7}

कुंतक के संपूर्ण विवेचन का सार यह है कि उनकी वक्रोक्ति चमत्कार-प्राण है, वह चमत्कार उत्पन्न करने के कारण ही वक्र - उक्ति है । कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति से ही अर्थ का विभावना होता है । अतः कवियों को इसके लिए विशेष सचेष्ट रहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना न तो अलंकार का अस्तित्व रह सकता है और न उसका महत्व ही । कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है किन्तु उनके इस मत को परवर्ती काल में स्वीकार नहीं किया गया है । वे अकेले ही इस मत के प्रवर्तक तथा अनुयायी हैं, पीछे के काव्यशास्त्रियों ने तो वक्रोक्ति को केवल एक अलंकार माना है ।

कुंतक की वक्रोक्ति कवि प्रतिभा जन्म "वक्र चारुत्व" होते हुए भी महत्वपूर्ण है । इससे भी महत्वपूर्ण है कुंतक की प्रतिभा । अपनी प्रतिभा से कुंतक ने वक्रोक्ति का बड़े समारंभ से प्रतिपादन किया है । उनकी वक्रोक्ति में वैचित्र्य अनिवार्य है, कुंतक की वक्रोक्ति अपने में सभी प्रकार के काव्यों को समाहित करती है, व्यापक रूप में उन्होंने ध्वनि, रीति आदि को अपनी वक्रोक्ति में समेटने का प्रयास किया है ।

(अ) कुंतक - निर्दिष्ट वक्रोक्ति के भेद :

कुंतक ने वक्रोक्ति का व्यापक अध्ययन किया है, उस अध्ययन के परिणाम स्वरूप कुंतक ने वक्रोक्ति के छः भेद मानेहैं । यद्यपि इन भेदों के आधार पर अनेक भेद हो सकते है, लेकिन प्रधान भेद छः ही हैं, वे हैं :-

1. वर्ण - विन्यास - वक्रता
2. पद - पूर्वार्द्ध - वक्रता
3. पद - परार्द्ध - वक्रता
4. वाक्य - वक्रता
5. प्रकरण - वक्रता
6. प्रबंध - वक्रता

§अ.1§ वर्ण - विन्यास - वक्रता :

रचना में वर्णों का विशेष प्रकार के प्रयोग का अध्ययन वर्ण - विन्यास वक्रता के अंतर्गत आता है । उसकी वक्रता, वैचित्र्यपूर्ण - विन्यास, जो कि पाठक को हृदयाह्लाद प्रदान कर सके, वर्ण - विन्यास - वक्रता कहलाता है । संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वर्ण संबंधी समस्त चमत्कार वर्ण - विन्यास वक्रता में समाविष्ट होता है ।इसके अंतर्गत शब्दालंकार अनुप्रास, यमक, उप-नागरिका आदि वृत्तियां , माधुर्य आदि गुणों का समावेश होता है ।

§अ.2§ पद - पूर्वार्द्ध - वक्रता :

इसके अंतर्गत शब्द - विशेष के प्रयोग का .वैचित्र्य समाविष्ट होता है । पद के पूर्वार्द्ध के विन्यास का वैचित्र्य ही पद - पूर्वार्द्ध - वक्रता है । इसे प्रकृति - वक्रता भी कहते हैं - इसके अनेक भेद हैं -

1. रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता 2. पर्याय वक्रता 3. उपचार वक्रता 4. विशेषण वक्रता 5. संवृतिवक्रता 6. वृत्ति वक्रता 7. लिंग वैचित्र्य वक्रता 8. भाव वैचित्र्य वक्रता 9. क्रिया वैचित्र्य वक्रता 10. प्रत्यय वक्रता ।

§अ.3§ पद - परार्ध वक्रता :

वक्रोक्ति के इस भेद के अंतर्गत पद के परार्ध में प्रकट विशेषताओं या वैचित्र्य का संकेत होता है । दूसरे शब्दों में सुप-तिङ् आदि प्रत्ययों का वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग ही प्रत्यय - वक्रता है । इसके अनेक भेद हैं - काल, कारक, संख्या, पुरूष, उपग्रह, प्रत्यय तथा पद वक्रता आदि ।

§अ.4§ वाक्य वक्रता :

पद समुदाय की वक्रता को वाक्य वक्रता कहते हैं । इसके अंतर्गत सुंदर

और उदार वर्ण्य - विषय का सुंदर और रमणीय वर्णन होता है । इसमें मुख्य रूप से दो प्रकार - सहजा और आहार्या प्रतिभा द्वारा चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है ।

{आ-5} प्रकरण वक्रता :

प्रसंग विशेष के वर्णन में वैचित्र्य उत्पन्न करना प्रकरण वक्रता कहलाता है । प्रकरण वक्रता किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने में होती है । इसके अनेक रूप हो सकते हैं ।

{आ-6} प्रबंध वक्रता :

इस वक्रता का संबंध संपूर्ण प्रबंध से होता है । नाटक और प्रबंध काव्यों में ही वक्रता होती है । यह वक्रोक्ति का एक व्यापक रूप है । इसके अनेक भेद हैं, जिनमें 6 भेद प्रमुख हैं, वे हैं :-

1. मूल रस परिवर्तन वक्रता
2. समापन वक्रता
3. कथा - विच्छेद वक्रता
4. आनुषंगिक फल - वक्रता
5. नामकरण वक्रता
6. तुल्यकथा वक्रता

कुंतक ने प्रबंध वक्रता के इन भेदों के अतिरिक्त अनेक भेद स्वीकार किये हैं । उनका कहना है कि "जैसे प्रतिभा में आनन्त्य है उसी प्रकार कवि प्रतिभा से जायमान वक्रता में ही आनन्त्य है ।"

"एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः ।" {वक्रोक्तिजीवितं - 1/19 की वृत्ति}

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुंतक वक्रोक्ति को व्यापक स्तर पर स्वीकार करते हैं। उनकी वक्रोक्ति कवि के समस्त व्यापार तक व्याप्त है। कुंतक काव्य में आये समस्त चमत्कार को वक्रोक्ति की सीमाओं में समेटने का प्रयास करते हैं। अत: अंशत: इसमें शैली, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, औचित्य, रस आदि का भी समावेश हो ही जाता है। कुंतक का यह सिद्धांत काव्य के चमत्कार के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए मान्य आदर्श बन सकता है। विश्व के प्राय: सभी काव्यशास्त्री किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि इतना व्यापक होते हुए भी यह सिद्धान्त युग की मान्यता प्राप्त करने में सफल क्यों न हो सका ? क्योंकि यह सिद्धांत इतनी देर से आया कि इससे पूर्व रस, अलंकार, ध्वनि, रीति आदि सिद्धांत विद्वानों के हृदय में अपना-अपना स्थान बना चुके थे। अब लोगों में इतना उत्साह नहीं रह गया था कि नव-आविष्कृत सिद्धांत समझें। 2. यह सिद्धांत शैली पक्ष की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या नहीं करता है जैसी रस-सिद्धांत करता है। 3. जिन पक्षों की यह सिद्धांत व्याख्या करता है वैसी व्याख्या ध्वनि, रीति, अलंकार से भी हो जाती है। 5. इसका विवेचन तथा भेदों-प्रभेदों का वर्गीकरण भी थोड़ा अस्पष्ट और जटिल है। संभवत: इन्हीं कारणों से यह सिद्धांत लोकप्रिय नहीं हो सका।

§ड§ वक्रोक्ति-संप्रदाय का विकास :

वक्रोक्ति मत का अभिव्यंजनावाद के संदर्भ में आ. रामचन्द्र शुक्ल ने वाग्वैचित्र्यवाद कहकर अवमूल्यन कर दिया था, पर डा० नगेन्द्र के सुविस्तृत आख्यान और पुनराख्यान जैसे प्रयासों ने उसे न केवल वाग्वैचित्र्यवाद के गर्त से उबारा, प्रत्युत "स्थान" प्रतिष्ठित भी किया।

डा० नगेन्द्र के आख्यान की एक विशेषता यह भी है कि वे प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धांत को अपने और युग चिन्तन-ढाँचे में भर देते हैं-

फलतः प्राचीन चिन्तन आज के चिन्तकों और जिज्ञासुओं के लिए ग्राह्य हो जाता है । उनके विवेचन में आधुनिक काव्यशास्त्र की शब्दावली में कुन्तक की स्थापनाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं । स्वच्छन्दता-वादी क्रोचे जैसे दार्शनिक चिन्तकों के संदर्भ में कुन्तक की विवेचना में निहित संभावनाओं को उजागार किया गया है ।

डा० नगेन्द्र ने कुन्तक के "वक्रत्वं कविव्यापार:" के अनुसार विषय वस्तु की अपेक्षा निर्माता कवि व्यापार को महत्व दिया है और उसका स्पष्टीकरण व्यापक परिप्रेक्ष्य में कर एक प्रकार से पुनराख्यान ही प्रस्तुत किया है ।

डा० नगेन्द्र की दृष्टि में कुंतक द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित कवि की "स्वालनता" और पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा स्थापित आत्माभिव्यक्ति का मध्यवर्ती है । इस प्रकार डा० नगेन्द्र भारतीय काव्य-शास्त्र की स्वत:पूर्ण मान्यताओं को आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली और तर्क प्रक्रिया द्वारा न केवल ग्राह्य बना देते हैं, अपितु विश्वसनीय भी । वक्रोक्ति प्रकृति के उद्दीपन है या आलंबन ? इस संबंध के में तो डा० नगेन्द्र कुन्तक के साथ हैं और उसे उद्दीपन ही कहना चाहते हैं ।

इस प्रकार वक्रोक्ति - सिद्धांत के विभिन्न पक्षों की शक्ति पर विचार करने के बाद नगेन्द्र जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि वक्रोक्ति सिद्धांत एक व्यापक सिद्धांत है जिसमें वर्ण से लेकर प्रबंध तक काव्य - सौन्दर्य के समस्त रूप वक्रता के ही प्रकार हैं ।

वाजपेयी जी ने भी वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए कहा है कि "वैदग्ध्य भंगी भाणिति" द्वारा कुंतक ने रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के बाद उसका विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुए किया है । इन्होंने प्रभेद की भी चर्चा की है ।

"भारतीय काव्य समीक्षा में वक्रोक्ति सिद्धांत" नामक ग्रंथ में डा० विजेन्द्र नारायण सिंह ने वक्रोक्ति सिद्धांत का समर्थ पुनराख्यान किया है । कुंतक से अलग करके भी इस अध्ययन को भाषिकी और सौंदर्य-बोध से जोड़ सकते हैं । व्यापकता को प्राप्त करने के लिए ही विजेन्द्र नारायण सिंह जी स्वभावोक्ति की रमणीयता, अतिशयोक्ति की शोभा एवं वक्रोक्ति/, क्रोचे, रिचर्ड्स और एम्पसन के चिंतन संसार की प्रस्तुति परखते हैं । उन्होंने वक्रोक्ति - विभावना का विकासक्रम, वक्रोक्ति‡- काव्यभाषा का स्वरूप^ नामक अध्यायों में अपनी मान्यताएं प्रकट की हैं । वक्रता के भेद तथा प्रभेद करते हुए उसके 6 भेद किये हैं - वर्णविन्यास वक्रता, पद पूर्वार्धवक्रता, पदपरार्ध वक्रता, वस्तु वक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रबंधवक्रता । वक्रोक्ति तथा अन्य भारतीय काव्य सिद्धांत पर विचार करते हुए डा०सिंह जी ने वक्रोक्ति का संबंध लक्षणा, स्वभावोक्ति, ध्वनि तथा अभिव्यंजना से स्थापित किया है ।

/ के विभिन्नता का सामंजस्य करके लौंजाइनस ‡ सिद्धांत में मूल्य का स्वरूप, वक्रोक्ति

"वक्रोक्ति तथा काव्यभाषा का स्वरूप पर विचार करते हुए डा० विजेन्द्र जी कहते हैं कि "...कविता में क्या की अपेक्षा कैसे का अधिक महत्त्व होता है । प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सा तत्त्व है जो कविता को गद्य से विलग करता है ? वह तत्त्व वक्रोक्ति है । काव्य का काव्यत्व अंततः वक्रोक्ति ही है । "कला अथवा वक्रोक्ति जब अपने चरम विकास पर पहुंचती है तब काव्य का रहस्य गद्योद्घाटनपटु उंगलियों से नहीं खुलता ।" कुंतक ने बतलाया है कि काव्य में भाव और शैली की प्रतिस्पर्धा रहती है और यही साहित्य है ।

वक्रोक्ति सिद्धांत के मूल्यांकन का एक संतुलित सिद्धांत कहते हुए बतलाते हैं कि "कुंतक जब काव्यमार्ग को सुकुमार क्रमोदित बतलाते हैं, तब उनका तात्पर्य यह है कि "वक्रोक्ति जीवितम- शिल्प अथवा जीवन दर्शन

किसी एक पर अधिक बल देने के दोष से पूरी तरह मुक्त है । भाव और भाषा की परस्पर स्पर्धा के सिद्धांत को इसी कोण से देखने पर उसकी महिमा ठीक से हृदयंगम की जा सकती है । कुंतक ने पुरानी वक्रोक्ति के क्षेत्र का बहुत विस्तार किया और उसमें उन सारी चीजों का समाहार प्रस्तुत किया जो कविता के संगठन में समाहित रहते हैं । इस अर्थ में वक्रोक्ति ही कविता है ।

1. रीति काव्य की भूमिका, पृ. 14

2. काव्यालंकार (2185) "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः को लंकारोऽनया
बिना ।।"

3. "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।"

अध्याय - 3

तेलुगु में भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास

अध्याय - 3

तेलुगु में भारतीय {संस्कृत} काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास

संस्कृत में ऐसे अनेक ग्रंथ है जिनमें कविता की प्रकृति और स्वरूप की परिभाषा की गयी है और जिनमें रस, अलंकार, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति, रीति पर विचार किया गया है। इन्हें साधारणत: लक्षण ग्रंथों की संज्ञा दी जाती है जिनका तेलुगु साहित्य की आलोचना में विशेष महत्व है। अंग्रेजों के भारत आने से पूर्व और तेलुगु आलोचकों पर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव होने से पूर्व तेलुगु साहित्य के कवि या लेखक अपनी रचना करने में अथवा उसके लक्षण स्थिर करने में संस्कृत ग्रंथों का ही अनुसरण करते थे। अत: अन्य भारतीय भाषाओं के समान ही तेलुगु विद्वानों ने भी भारतीय {संस्कृत} काव्यशास्त्र के सिद्धांतों से प्रभावित होकर उनका विकास अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है। तेलुगु साहित्य के विद्वानों ने विवेच्य कृति को परंपरागत समीक्षा के सिद्धांतों की कसौटी पर ही कसा और उन्हीं के आधार पर गुण - दोषों का निरूपण करते हुए यह निर्णय किया कि रचनाकार में परंपरागत सिद्धांतों का पालन करने की कितनी योग्यता है। वे रस - निष्पत्ति नायक - नायिका - भेद, अलंकार - प्रयोग, शुद्ध व्याकरण सम्मत शैली तथा काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों में स्थिर छन्द:शास्त्रीय परिपूर्णता को अत्यधिक

महत्त्व देते थे । इनके उद्देश्य के अनुसार किसी भी प्रकार की त्रुटि उनकी दृष्टि में अक्षम्य थी और उसकी वे कटु आलोचना करते थे ।

दंडी की सूक्ति "तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दोषं कथंचन" अर्थात काव्य के छोटे से छोटे दोष को भी अनदेखा नहीं करना चाहिए । यह तेलुगु के आलोचकों के लिए मापदंड थी । तेलुगु साहित्य में औचित्य सिद्धांत का भी अनुसरण कियागया और काव्य में औचित्य कोमहत्त्वपूर्ण अंग माना गया । अत: वे औचित्य के प्रति अत्यंत सजग थे लेकिन कथानक, जन साधारण की सामाजिक एवं अन्य परिस्थितियों तथा यथार्थ चित्रण की ओर ध्यान नहीं देते थे । उनकी दृष्टि में वही साहित्य श्रेष्ठ था जो प्राचीन लक्षण- ग्रंथों में स्थिर सिद्धांतों की कसौटी पर खरा उतरता था और जिन रचनाओं में इन सिद्धांतों की अवहेलना की जाती थी उन्हें वे निम्न स्तर का समझते थे । तेलुगु साहित्य के ये विद्वान, लेखक व कवि अपनी रचनाओं में परंपरागत मूल्यों पर ही पूरा बल देते थे ।

तेलुगु के विद्वानों ने न केवल संस्कृत सिद्धांतों का अनुसरण ही किया बल्कि उन महान संस्कृत आचार्यों के अमर ग्रंथों का अपनी भाषा में अनुवाद भी किया जैसे भरत का "नाट्य शास्त्र", मम्मट का "काव्यप्रकाश", दण्डी का "काव्यादर्श", वामन का "काव्यालंकार - सूत्र", आनन्दवर्धन का "ध्वन्यालोक", क्षेमेन्द्र का "औचित्य - विचार चर्चा", विश्वनाथ का साहित्य दर्पण", राजशेखर का "काव्य मीमांसा", विद्यानाथ का "प्रतापरुद्रीय", धनंजय का "दशरूपक", पंडितराज का "रसगंगाधर" और भानुदत्त कृत "रस मंजरी" । इन अनूदित ग्रंथों के माध्यम से और इनके अलावा भी कई मौलिक ग्रंथ जो भारतीय सिद्धांतों को विकसित करते हैं, तेलुगु में लिखे गये हैं । इनमें विन्नकोटि पेद्दना (1407) की रचना "काव्यालंकार चूडामणि" है जिसमें इन्होंने "रस", "काव्य", "अलंकार", "छन्द" पर विचार किया है । पेद्दना

ने यद्यपि कई स्थानों पर संस्कृत - साहित्यशास्त्रियों का अनुसरण किया है तदापि अन्य स्थानों पर उन्होंने अपने मौलिक विचार भी स्वतंत्रता पूर्वक अभिव्यक्त किये हैं ।

15वीं शती के पूर्वार्द्ध में अनंतामात्य ने "रसाभरण" की रचना की जिसमें इन्होंने विभाव, अनुभाव, रत्यादि, श्रृंगार, रस भेद, सात्त्विक भाव (स्थायी भाव) पर विचार किया है जिसके लिए इन्होंने काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण का अनुसरण किया है । 16वीं शती में तेलुगु में श्री भट्टुमूर्ति जी ने काव्यालंकार - संग्रह नाम से एक ग्रंथ लिखा जिसमें रस, ध्वनि, गुण-दोष, नायक, काव्य की आत्मा, व अलंकारों का विवेचन किया गया है । 17वीं शताब्दी में गणपवरपु वेंकट कवि ने "सर्वलक्षण शिरोमणि" नाम से एक समीक्षा ग्रंथ की रचना की जिसमें काव्य, रस, नायिका, नायक आदि पर विचार किया गया है । यह ग्रंथ तेलुगु साहित्य के लिए अपने आप एक लक्षण ग्रंथ भी कहा जा सकता है । वेणुगुर्ल वेंकटकवि कृत "श्रृंगाररसालबाला" नामक ग्रंथ जिसमें रस सिद्धांत का विवेचन करते हुए श्रृंगार रस पर व्यापक विचार किया गया है और रत्यादि भावों पर तथा रस - भेद पर समीक्षा की गयी है ।

आधुनिक काल में अधिकसिद्धांतः ग्रंथों का विकास हुआ है जो भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांतों को आधार बनाकर लेखकों ने अपनी ओर से मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं । जैसे स्व॰ के॰सीता रामय्या कृत "अलंकार-तत्त्व - विचार", एस राघव अय्यंगार कृत "अलंकार - मंजरी", नाग सुब्बाराम कृत "रस भावनायिका संप्रदाय", स्व॰ के वीरेशलिंगम्पंतुलु कृत "काव्यलक्षण" । श्री अय्यंगार जी ने "अलंकार मंजरी" में काव्य रस, ध्वनि, गुण, रीति और अलंकारों का विवेचन "काव्य - प्रकाश" की पद्धति पर जैसे मम्मट के सिद्धांतों के अनुसार विस्तृत विवेचन किया है । इसी प्रकार आनंदवर्धन के विचारों से

सहमत होते हुए श्री वी.तिरुवेंगलाचार्य ने ध्वन्यालोक का अनुवाद किया और तेलुगु की कविताओं से उसमें उदाहरण और दृष्टांत दिये । श्री.वी. सदाशिव शास्त्रि जी ने "काव्यालंकारसंग्रह" के "रस विषयक" अध्याय पर समीक्षात्मक टीका लिखी । इसमें उन्होंने काव्य रस, ध्वनि, अलंकार आदि पर संस्कृत सिद्धांतों से उद्धरण देते हुए अपने विचार प्रकट किये । स्व.श्री मेडेपल्लि ने अपने ग्रंथ "संस्कृत अलंकारों का इतिहास" में अलंकार - साहित्य के विकास पर प्रकाश डाला है । तेलुगु में मौलिक व अनूदित लक्षण ग्रंथों पर विचार किया गया है और रस, ध्वनि, रीति, गुण, दोष, अलंकार, औचित्य पर चर्चा की गई है ।

तेलुगु के अलंकार - साहित्य को एक मूल्यवान देन, श्री चर्ल गणपति शास्त्रि जी ने दी है । उनके ग्रंथ "साहित्यसौंदर्य दर्शनमु" से । इसमें अलंकार शास्त्र का विशद विवेचन किया गया है और ध्वनि, गुणी भूतव्यंग्य, नाटक, रस, औचित्य, गुण, दोष, रीति, शब्दालंकार, अर्थालंकार पर अलग - अलग विचार किया गया है । इस ग्रंथ में लेखक ने काव्यशास्त्र के सभी संस्कृत ग्रंथों का सार दिया है तथा प्राचीन एवं आधुनिक तेलुगु कविताओं से उदाहरण दिये हैं ।

तेलुगु में रस सिद्धांत के विकास के संबंध में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि नन्नया, तिक्कना जैसे आदि कवि ही इसके प्रवर्तक माने जाते हैं ।अपनी कविताओं के प्राक्कथनों में उन्होंने यह व्याख्या की है कि काव्य कैसा होना चाहिए और साथ ही स्वयं अपने काव्य की प्रमुख विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है । नन्नया के अनुसार काव्य की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं -

1· प्रसन्नकथा कलितार्थ युक्ति

2· अक्षर - रम्यता·

3· नानारुचिरार्थ - सूक्तिनिधित्व·

तिक्कना ने आदर्श काव्य के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं जिन्हें उन्होंने "विराट पर्व" के प्रारंभ में लिखा है जो मर्मस्पर्शी है जिसमें विभिन्न रसों का समावेश है ।

नन्नया ने पूरी तरह भारतीय काव्य शास्त्र का अनुसरण किया है । नन्नया आदि कवियों ने अपने ग्रंथों में काव्य के बारे में थोड़े बहुत विचार व्यक्त किये हैं किन्तु उनका सैद्धांतिक महत्व कम है ।

1· तेलुगु साहित्य में रस सिद्धांत का विकास :

(अ) नन्नया और रस सिद्धांत :

नन्नया जी, जो 11वीं शताब्दी के माने जाते हैं, ने अपनी अनूदित कृति "भारतमु" में सभी रसों का समावेश किया है जिनके कारण उनकी कृति को "प्रसन्न कथा कवितार्थयुक्ति" नाम दिया जाता है क्योंकि इसमें जो भी शब्द अर्थ दिये गए हैं वे पाठकों के चित्त को प्रसन्न करने वाले हैं । नन्नया जी ने कथा के साथ कई महान अर्थों को भी जोड़ दिया है । इसके लिए उन्होंने भरत जी के स्थायी भाव, विभाव, व्यभिचारी भाव आदि की सहायता से और उनका अनुसरण करते हुए रस का व्यक्तिकरण किया है ।

नन्नया जी ने "भारतमु" में सभी रसों को अंग या अंगी रूप में लिया है । भारतमु के "आदि" और "अरण्य" पर्वों में इन्होंने श्रृंगार रस का प्रयोग किया है । कई स्थानों पर "रसाभास" का भी वर्णन अत्यंत मनोहर

दृष्टि से किया है । नन्नया ने अपने मधुर शब्दों के प्रयोग के सामर्थ्य से रस का प्रयोग करते हुए एक विलक्षण मार्ग को अपने आप अपनाया है ।

नन्नया के समकालीन कवि नारायण भट्ट, पावुलूरि मल्लना, मल्लिया रेचना, वेमुलवाडा भीमकवि, अथर्वणाचार्युडु ने भी कई ग्रंथों का संस्कृत से तेलुगु में अनुवाद किया है, मौलिक ग्रंथ लिखे हैं और कुछ रचनाएँ संस्कृत में भी की हैं । लेकिन प्रधान विषय यह है कि ये लोग रस सिद्धांत के संदर्भ में अपने कोई मानदंड स्थापित नहीं कर पाये । एक तरह से देखा जाए तो वे संस्कृत आचार्यों से हटकर बाहर नहीं आए परन्तु उन्हीं का अनुसरण करते रहे । इस प्रकार की रचनाओं को मार्ग कविता कहते हैं जो संस्कृत साहित्य के लक्षणों से प्रभावित होती है ।

(आ) रस सिद्धांत और तिक्कना :

तिक्कना का काल 13 वीं शती अर्थात सन् 1205 से 1288 तक माना जाता है । तिक्कना जी ने अपनी अनूदित कृति "भारतमु" में जिस रस को प्रधान रूप में प्रयोग किया है वह है शांत रस । इसमें तिक्कना जी ने युद्ध वर्णन के लिए भी वीर रस या रौद्र रस के समीप न जाकर शांत रस ~~या रौद्र रस के समीप न जाकर शांत रस~~ का ही वर्णन किया है । यह तिक्कना की विशेषता है । दूसरे रसों का वर्णन करने के बजाय उन्होंने कुछ ही शब्दों में लिखकर, उन्हें टाल दिया है । तिक्कना का मन्तव्य था कि "एको रस: शांत रस:" ।

इस काल में कुछ कवियों ने "रस" शब्द को केवल नव रस के अंतर्गत स्वीकार किया और कुछ कवियों ने "आर्द्रभाव" के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग किया । कुछ लेखकों ने यह भी कहा कि "अनंता वैरसा:" । अत: इस काल

में या युग में सभी कवियों ने "रस" शब्द को "प्रपंचार्थमु" में स्वीकार किया। तिक्कना जी को "नानारसाभ्युदयोल्लासि" भी कहा जाता है क्योंकि इन्होंने "भारतमु" में समयानुसार तथा उचितानुसार शांत रस को प्रधान मानकर सभी रसों का प्रयोग किया है जैसे महाभारत के "विराट पर्व" में उत्तरा तथा अभिमन्यु के विवाह के समय श्रृंगार रस का, "युद्ध पर्व" में रौद्र, वीर रसों का, "उद्योगपर्व" में वीर रस "स्त्री पर्व" में करुण रस, शांत रस का मधुर वर्णन किया है।

§इ§ शिव कवि युग और रस सिद्धांत :

तेलुगु साहित्य इतिहास में नन्नया और तिक्कना के बीच के काल को अर्थात 12 वीं शती को "शिव कवि युगमु" कहा जाता है। नन्नेचोड्डु पालकुरिकि सोमनाथुड्डु मल्लिकार्जुन पंडिताराध्युड्डु इन कवियों को "शैव कवित्रय" भी कहते हैं क्योंकि इन लोगों ने शिव प्रधान ग्रंथों की रचना की। जैसे बसव पुराणमु, पंडिताराध्य चरित्रमु, कुमार संभवमु। इन तीनों ग्रंथों में नव रसों का उचितानुसार महत्व दिया गया है। कुमार संभवमु में शिव-पार्वती के संयोग के लिए श्रृंगार रस का, तारक और कुमार स्वामि के बीच हुए युद्ध के लिए वीर - वीभत्स रसों का, शिव के तपोनिष्ठा के लिए शांत रस का प्रयोग किया गया है। कई स्थानों पर नन्नेचोड्डु जी ने संदर्भ के अनुसार हास्य, शांत, रौद्र रसों का भी प्रयोग किया है। सोमनाथुड्डु जी ने "नवरस रसिकता भुविनि पेर्कोन्ना शिव कवि वल्ल चित्तंबुललस" कह कर बसवपुराणमु की रचना की है। सोमनाथुड्डु जी नवरसों का वीरशैव भक्ति के माध्यम से वर्णन किया है। उन्होंने इस पुराण में करुण रस का प्रयोग औचित्य के अनुसार किया है।

§ई§ एर्रना तथा रस सिद्धांत :

प्राचीन तेलुगु साहित्य के "कवित्रयमु" के अंतिम कवि "एर्रना" जो सन् 1280 - 1364 के बीच हुए थे, उनकी रचनाओं में भी संस्कृत आचार्यों

के रस - सिद्धांत के लक्षण प्रकट होते हैं । उन्होंने अपनी रचनाएं "रामायणमु" "हरिवंशमु", और "अरण्यपर्व शेषमु" में रस दृष्टि का परिचय दिया है । इनकी रचनाओं में अनेक कथाएं होने से रस के संचारी भावों, अनुभावों का प्रयोग किया गया है । स्पंदन, विस्तृति, द्रवीभाव - ये तीनों का रसानुभव एर्रना जी के काव्यों में वर्णित है, जो एक उत्तम काव्य के लक्षण माने जाते हैं । "रस सिद्धि" की मात्रा एर्रना जी की रचनाओं में अधिक है । श्री राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा जी का कहना है कि "रस प्रवाह के बारे में जितनी लगन और निर्मलता एर्रना जी की कविता में है उतनी दूसरों में नहीं ।"

एर्रना जी के "हरिवंशमु" में श्रीकृष्ण की पूर्ण जीवन कथा है अतः इन्होंने इसमें सभी रसों का यथोचित उपयोग किया है जैसे - यशोदा और कृष्ण, कृष्ण और बलराम, राधा और कृष्ण आदि के बीच के वार्तालाप में इन्होंने करुण रस, शांत रस, श्रृंगार रस, वीर रस का प्रयोग किया है । अतः इनकी रचनाओं को "समधिक रस भरितंबु" भी कहते हैं जिसमें समान रूप से रस भरे हुए हैं ।

एर्रना के ही समकालीन कवि नाचन सोमनाथुडु माने जाते हैं जिनकी रचनाओं में "रस सिद्धि" कम है । इसलिए इनके काव्य में साहित्यिक रस-पोषण कम है । एर्रना के ही समकालीन कवि हैं राविपाटि त्रिपुरांतकुडु चिम्मपूडि अमरेश्वरुडु, श्रीगिरि, पशुपति नागनाथ आदि जिनकी रचनाओं में रस पोषण कहीं - कहीं है ।

(3) श्रीनाथुडु और रस सृष्टि :

श्रीनाथुडु तेलुगु साहित्य में सन् 1385 - 1475 के बीच एक आगर्भ कवि माने जाते हैं । इन्होंने "मरुत्तराट्चरित्र", "शालिवाहन सप्तशति",

पंडिताराध्य चरित्र" और "श्रृंगार नैषधमु" की रचना की है । इनकी अंतिम रचना अनूदित कृति है जिसमें मूल से अच्छा रस पोषण हुआ है । वे अपनी स्वतंत्र रचना प्रवीणता से रस को बढ़ाया है ।

इनके ही युग में श्री अनंतामात्युडु जी ने "भोजराजीयमु", "छंदोदर्पणमु", "रसा भरणमु" की रचना की । "रसाभरणमु" तेलुगु साहित्य में एक अलंकार ग्रंथ है जिसे "रसार्णवमु" भी कहते हैं । रस का विवेचन और उसके लक्षण इसमें सोदाहरण रूप में बताये गये हैं ।

इनके अलावा श्रीनाथ युग में गोरना, दूबगंटा नारायण, भान्या, पिल्लमर्रि पिनवीरभद्रुडु, सूरना, ताल्लपाक कवि, चिन्नकोट पेद्दना आदि कवियों ने भी अपनी रचनाओं में रस पोषण उचित मात्रा में किया ।

(उ) पोतना जी और उनकी रस विषयक मान्यताएं :

पोतना कृत "आन्ध्र महाभागवतमु" को भक्ति के लिए दूसरा नाम कहा जाता है क्योंकि इसमें इन्होंने भगवद्भक्ति रस पूर्ण सिद्धांत के आधार पर भक्तों में रसानुभूति को प्रेरित किया है । यह भी लक्षण ग्रंथ ही है लेकिन भक्ति रस पूर्ण । यदि इस ग्रंथ में सहृदय पाठक की रसानुभूति का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि सहृदय पाठक इसमें अलौकिक अर्थों के पीछे आध्यात्मिक भाव की अनुभूति लेता है । पात्रों के माध्यम से वह रसानुभूति प्राप्त करता है लेकिन वह स्थिति पाता है जहां आत्मानंद स्थिति को पाने के लिए प्रयत्न करता है । गोपिकाओं में पोतना जी ने साधारणीकरण का भाव उत्पन्न किया है क्योंकि भागवत में श्रीकृष्ण को गोपिकाओं ने एक सहृदय के रूप में अपनाया है । भरतमुनि और अभिनव गुप्त की मान्यताओं केअनुसार इन्होंने यहां रस की मान्यताएं स्थापित की हैं ।

भागवत को कुछ आलोचक शांत रस प्रधान भी मानते हैं और कुछ भक्तिरस प्रधान कहते हैं । कुछ लोग यह भीमानते है कि भक्ति का आविर्भाव शांत में होता है । लेकिन तेलुगु साहित्य में कुछ लोगों की यह कमजोरी है कि वे जितनी रस के स्वरूप की चर्चा करते है उतनी रस समन्वय की नहीं । अत: भक्ति रस समन्वय के लिए और परिश्रम की आवश्यकता है । भागवत में शांत भाव अंग है । भगवद्रूप रति भाव स्थायी है । अत: इसमें भक्ति रस ही है ।

तेलुगु साहित्य के प्राचीन कवि पुराण इतिहासों के लक्षणों का विवेचन प्रबंधों के समान किया है लेकिन प्रक्रिया भेदों का पालन नहीं किया है । इसलिए पुराणों को भी महाकाव्य के समान ही अंगांगि का रस विवेचन करना परिपाटि हो गई ।

प्रबंध युग (1500 से 1700 तक)

आधुनिक तेलुगु साहित्यिक आलोचना में "प्रबंध" शब्द एक विशेष अर्थ के रूप में मान्य हुआ । "प्रबंध" एक काव्य प्रक्रिया के रूप में प्रसिद्ध हुआ । तेलुगु के आलोचकों ने महाकाव्य से भी कुछ अधिक विशिष्ट लक्षण प्रबंध काव्यों में पाया । "अष्टादश वर्णनों से लेकर अलंकारपूर्ण रचनाओं तक कुछ लक्षण इन आलोचकों ने प्रबंधों में पाया। वे लक्षण प्रधानत: वस्तु, वर्णन, नायक-नायिका भेद, रस, रचना से संबंधित हैं । इन लक्षणों को यदि संस्कृत महाकाव्य लक्षण से तुलना करें तो हमें इतना अधिक महत्व तो पता नहीं चलता लेकिन तेलुगु साहित्य में प्रकाशित ऐतिहासिक काव्यानुवाद प्रक्रिया के बाद प्रबंध को देशीय रूप में समीक्षात्मक दृष्टि से देखने से इनकी विशिष्टता स्पष्ट होगी ।

इस युग में कृष्णदेवराय के अष्ट दिग्गजों में अल्लसानि पेद्दना का दिखाया गया मार्ग क्लिष्टपूर्ण है । उन्होंने पुराण कथा को प्रबंध वस्तु के रूप में ग्रहण किया लेकिन इसी कथा को प्रतीकात्मक प्रवृत्ति के आधार पर अपनी कृति "मनुचरित्रा" में विवेचित किया । वैसे दक्षिणान्ध्र के साहित्यिक युग में विकसित आन्ध्र प्रबंधों में "विजय विलासमु" विशिष्ट है । इसके नाम से ही ज्ञातव्य है कि यह श्रृंगार रस से पूर्ण है । तेलुगु साहित्य में "विलासमु" नाम से कई काव्य हैं लेकिन वे सब श्रृंगार प्रबंध काव्य नहीं हैं । तेलुगु में वीर, अद्भुत, भक्ति, शांत रस प्रधान विलास काव्य से अधिक श्रृंगार प्रधान विलास काव्य ही अधिक हैं ।

श्रीकृष्णदेवराय की रचना "आमुक्तमाल्यदा" में अंगी रस श्रृंगार है । यह श्रृंगार अलौकिक है । प्रधान रस श्रृंगार के अंग के रूप में वीर रस को रायलु जी ने वर्णित किया है । वीर का स्थायी भाव उत्साह है । आलोचक टी॰कोटेश्वर राव के अनुसार आमुक्तमाल्यदा में दया वीर, धर्म वीर आदि अंगी रस के रूप में है । अतः आमुक्त माल्यदा में वीर, अद्भुत, शांत सभी रस अंगीरस श्रृंगार के परिपोषक हैं ।

पेद्दना जी के "मनुचरित्रा" में श्रृंगार प्रधान है और वीर आदि गौण हैं । इस कृति के प्रधान रस के संबंध में आलोचकों में मतभेद है । पिंगलि लक्ष्मीकांतम जी का कहना है कि इसमें अंगी रस शांत है, श्रृंगार आलंबन है । लेकिन कुछ आलोचकों के मतानुसार "मनुचरित्रा" में सर्वत्र धर्मवीर ही प्रधान रस है ।

मुक्कु तिम्मना का "पारिजातापहरणमु" एक उत्तम प्रबंध काव्य नाटक है । इसमें प्रधान रस श्रृंगार माना जाता है युद्ध आदि घटनाओं में वीर, रौद्र, बीभत्स आदि अंग रसों के रूप में प्रधान रस को प्रेरणा दी है । अंगी रस है श्रृंगार रस ।

धूर्जटि कृत प्रबंध काव्य "कालहस्ति माहात्म्यमु" में प्रधान रस है शांत रस । पात्रानुसार कहीं कहीं अद्भुत हास्य व करुण रसों का भी निर्वाह हुआ । ब्रह्म की कथा में शांत के अंग के रूप में वीर रस को लिया गया है । रति जैसे प्रसंगों के संदर्भ में श्रृंगार रस का भी वर्णन किया गया है ।

इसी युग में तेनालि रामकृष्ण, पिंगलि सूरना, रामराज भूषण, रघुनाथ नायक, चेमकूर वेंकट कवि आदि ने भी अपनी रचनाओं में उचितानुसार रस का निर्वाह किया है ।

जिस प्रकार हिंदी साहित्य में प्रबंध युग था, जिस युग में श्रृंगार रस प्रधान रचनाएं की गई थीं लगभग वैसे ही तेलुगु साहित्य में श्रृंगार रस भक्ति पूर्ण रचनाएं हुई थीं । इसी युग में यक्षगानों का विकास, वचन काव्यों का विकास, ऐतिहासिक काव्यों का विकास हुआ था । लेकिन हिंदी के रीतिकाल में श्रृंगार के अति के कारण जैसे उसकी क्षीण दशा हुई थी वैसे ही तेलुगु साहित्य में इसको क्षीण युग भी माना जाता है । यह तेलुगु साहित्य के इतिहास में एक आधुनिक युग को जन्म दिया है इसी को सन्धि काल भी कहा जाता है ।

§3§ आधुनिक तेलुगु साहित्य में रस सिद्धांत का विकास :

अब तक इस अध्याय में भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांतों का विकास और उनसे संबंधित जितने भी ग्रंथ आधुनिक तेलुगु साहित्य में प्रकाशित हुए हैं इसके बारे में चर्चा की गई है । यदि हम संस्कृत साहित्य के सिद्धांतों के अंतर्गत रस सिद्धांत को लेकर आधुनिक तेलुगु साहित्य में उसकी नवीनतम व्याख्या पर विचार करना चाहें तो हैदराबाद केन्द्रीय विश्व विद्यालय के प्रोफेसर एवं डीन डा० जी·वी·सुब्रह्मण्यम जी की आलोचना दृष्टि और रस

सिद्धांत के प्रति उनके आधुनिक मापदंडों को इस शोध ग्रंथ के अंतर्गत उल्लिखित करना अत्यावश्यक है । डाक्टर साहब ने अपने ग्रंथ "वीर रसमु", "रसोल्लासमु", तेलुगु साहित्यमुलो नव रस पोषणा" में रस से संबंधित नये सूत्रों का आविष्कार किया है ।

सुब्रमण्यम जी के अनुसार रसों के अंतर्गत धर्म व वीर रस महान हैं और "रसानां रस:" जैसे सैद्धांतिक वाक्य पर शोध हुआ है । आपने रामायण व महाभारत के अंगीरस को धर्मवीर रस माना है और इसकी पुष्टि में कई उदाहरण दिये हैं । इस प्रकार सुब्रमण्यम जी ने न केवल रस सिद्धांत की आधुनिक संदर्भ में व्याख्या की है बल्कि नयी स्थापनाएं भी दी हैं ।

डा० सुब्रमण्यम जी ने रामायण में अंगीरस क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए गहन रूप में अध्ययन किया है । आनंद वर्धन ने "ध्वन्यालोक" में रामायण को करुणरस प्रधान कहा है । अभिनव गुप्त भी लोचन व्याख्या में इसी मत का अनुसरण किया है । वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षियों में नरपक्षी के वध होने से जो शोक उत्पन्न हुआ है वही शोक श्लोक का रूप ग्रहण किया । आनन्दवर्धन के विचार में सीता के वियोग में दुखित राम के कारण वाल्मीकि को अच्छा अवकाश मिला और लौकिक रस अलौकिक रस के आविष्कार में परिणत होने का अच्छा अवकाश महर्षि के लिए मिला और क्रौंचमिथुन विषाद कथा का श्लोक होने के कारण रामायण में जो रस है, वह करुण रस है । अत: पूरे प्राचीन आचार्यों ने (संस्कृत, हिंदी, तेलुगु के) आनंद वर्धन के इस मत को शिरोधार्य माना । उत्तर रामायण में राम सीता वियोग को भी शोक मानते हैं । यदि रामायण में जो रस है वह करुण है तो वह वाल्मीकि के हृदय में जो शोक है वह स्थायी भाव नहीं बल्कि राम

का शोक ही स्थायी भाव है । इसके तर्क में सुब्रमण्यम जी कहते हैं कि यह शोक राम में भी दिखाई नहीं देता । क्योंकि राम राज्य के वियोग में नहीं रोया, अरण्यवास करने के लिए नहीं रोया, सीता को परित्याग करने के लिए नहीं रोया, बल्कि सीता के मरण के लिए रोया । यहाँ पर जो भी घटनाएँ है वे सब मानव सहज हैं । इन घटनाओं में जो आदमी नहीं रोता है वह पाषाणहृदय है । तो राम अपने पूरे जीवन काल में जहाँ भी विलाप किया है वहाँ निडर किया है, यह धीरोदात्त नायक के लक्षण हैं । पूरे रामायण में राम का त्याग गुण सामान्य जनता में सहानुभूति प्रकट करती है । जो सहृदय राम से सहानुभूति स्थापित करते हैं वे धर्म वीर रस का अनुभव करते हैं । राम के जीवन में शोक स्थायी भाव नहीं है । केवल संचारी भाव ही है । इसमें धर्म का उत्साह स्थायी भाव है । रामायण में धर्मवीर अंगी रस है ।[1]

लोक धर्म व्यक्ति धर्म से भी श्रेष्ठ है । शोक का उदय होने पर भी धर्म उस पर शासन करता है । इसलिए पूर्व रामायण की तरह उत्तर रामायण में भी धर्मोत्साह ही स्थायी भाव है । धर्मवीर अंगी है, करुण अंग है । यह बात तिक्कना ने भी भी कही है । रावण का संहार भीलोक-हित में धर्म ही है । राम जगत का धर्म साधक है, उनकी कथा में जो रस है वह धर्मवीर रस है ।[2]

संचारी भावों से स्थायी, अंग रसों से अंगी का पोषण होता है । पोष्य द्रव्यों के स्वभावानुसार पोष्यद्रव्य - स्वभाव का निर्धारण होता है । हाथ में बाण लेते समय राम जितने रुद्र हैं - शरणागत रक्षाधर्म के समय उतने ही उदार हैं । राम का धर्म वीर भाव आर्द रस भावों से पूर्ण है । यही रामायण के रसपोषण का रहस्य है ।रामायण में राक्षस पात्रों के अलावा दूसरे सभी पात्रों में वात्सल्य, भक्ति, स्नेह आदि भाव प्रकट होते हैं जैसे

दशरथ का वात्सल्य, करूण, भरत की श्रद्धा भक्ति, लक्ष्मण की सेवा भक्ति, हनुमान की दास भक्ति, सीता की धार्मिक भक्ति, शबरी - विभीषणादि की शरणागत भक्ति, सुग्रीवादि की स्नेहानुगुण - ये सभी आर्द भाव हैं । विश्वनाथ सत्यनारायण जी ने इन पात्रों के स्वभावों को भक्ति रस पूर्ण आर्द में परिवर्तित कर दिया । इससे रामायण का धर्मवीर दूसरे किसी भी काव्य में आर्द के रूप में प्रकट नहीं होता ।

"एको रस: करूण एव" कहते समय शोक स्थायी के लिए करूण रस प्रधान नहीं है, यह करूण रस समर्थकों का मत है । रामायण में अंगी रस के रूप में धर्मवीर रस आस्वादनीय है ।इसी प्रकार डॉ0 सुब्रह्मण्यम जी ने महाभारत का अंगीरस भीधर्मवीर ही स्वीकार किया है । वे कहते हैं कि तभीमहाभारत में एक सगौरवनीय रस स्थिति होती है ।[3] शांत रस वाद जो संस्कृत के महाभारत पर लागू होता है वह तेलुगु केमहाभारत के काव्य पर लागू नहीं होता । क्योंकि संस्कृत का महाभारत एक शास्त्र है जबकि तेलुगु का महाभारत एक काव्य । तेलुगु में महाभारत के शांत रस को नवम् रस के रूप में लेने के संदर्भ में अनेक वाद विवाद हुए हैं । तिक्कना ने इसकी "धर्माद्वैत स्थिति" की चर्चा की है और नीलकंठ शास्त्रि जी ने धर्म और अद्वैत स्थिति की चर्चा की है, इस परिस्थिति में नायक की आश्रित स्थिति धर्म स्थिति है, अर्थात "धर्मवीर" "रसानांरस:" नामक अपने लेख के अंतर्गत डा0 सुब्रह्मण्यम जी "वीर" को ही रसानांरस: कहते हैं । संस्कृत में अभिनवगुप्त आदि की मान्यता थी कि धर्म प्रधान रस ही वीर है । अत: वीर धर्म का मूल स्त्रोत है और धर्म ही वीर का मूल स्वरूप है । अत: धर्म वीर ही वीर रस है । डाक्टर साहब वीर को "रसानां रस:" कहते हुए इसके स्पष्टीकरण में तीन सूत्र कहते हैं[3]

1. रसों के लिए (मूल) रस
2. रसों में (व्यापक) रस
3. रसों का (सार) (निचोड़) रस

वीर रस सभी रसों के लिए मूल है यह अलग अलग स्थितियों में बहुमुख रूप में प्रकट होता है । लेकिन रस स्थिति के लिए प्रेरणादायक यही है । अत: "धर्मवीर येव रसानां रस:"।[4]

2. तेलुगु साहित्य में अलंकार सिद्धांत का विकास :

तेलुगु साहित्य में संस्कृत काव्य शास्त्र के अलंकार सिद्धांत का विकास कवित्रय युग में (11 वीं शती से सन् 1350 तक) श्रीनाथ युग में (सन् 1350 से 1500 तक) प्रबंध युग में (सन् 1500 से 1875 तक) संपूर्णत: तथा आधुनिक युग में अत्यल्प हुआ है ।

तेलुगु के कवित्रयों में प्रथम कवि नन्नया जी ने अपनी अनूदित रचना "भारतमु" में "प्रसन्नकथाकलितार्थयुक्ति" कहकर अर्थालंकारों का प्रयोग चमत्कार पूर्ण ढंग से किया है । इन्होंने मनोहर रूप में उपमा अलंकार का प्रयोग किया है । अच्छे-अच्छे चमत्कारपूर्ण पदों, समासों, कारकों और वाक्यों का प्रयोग हुआ है । इसमें समासोक्ति, अतिशयोक्ति अलंकार जो उक्तिविशेष हैं उनका भी प्रयोग हुआ है । इनके काव्य में संपूर्ण वाक्य में अलंकार प्रकट होते हैं ।

तेलुगु साहित्य के शिव कवि युग के कवि श्री पाल्कुरिकि सोमनाथुडु की रचनाएं जैसे बसवपुराणमु, पंडिताराध्य चरित्रमु आदि में भी उपमा अलंकार, उत्प्रेक्षा अलंकार, रूपक अलंकार, स्वभावोक्ति अलंकार आदि को अर्थपूर्ण ढंग से प्रयोग किया है । एक विषय को स्पष्ट करने के लिए सोमनाथ ने कई उपमाओं का प्रयोग किया है ।

कवित्रय के दूसरे कवि तिक्कना ने "निर्वचनोत्तर रामायणमु", "दशकुमार चरित्र" में अर्थालंकारों का उचित रूप में प्रयोग किया है जिसमें "उपमा" अलंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है ।

कवित्रय के अंतिम कवि "एर्रना" ने अपनी कृतियों में "रामायणमु", "हरिवंशमु" में शब्दालंकारों का और अर्थालंकारों का प्रयोग किया है । इनके समकालीन कवि नाचना सोमनाथुडु ने भी उत्तर हरिवंशमु" में शब्दालंकारों का प्रयोग किया है । श्रीनाथुडु ने "भीमपुराणमु", "पलनाटि वीर चरित्र" में शब्दालंकारों का समुचित प्रयोग किया है ।

प्रबंध युग के कवियों ने भी "रसाभरणमु" शास्त्र में पूरे अलंकार शास्त्र को तेलुगु में लिखा है । इस ग्रंथ के रचनाकार हैं "अनंतानात्युडु" इस प्रकार तेलुगु साहित्य के अन्य कवियों ने भी अलंकार शास्त्र के सभी अलंकारों का प्रयोग किया है और उनका प्रयोग उचित मात्रा में किया है । लेकिन अपनी मान्यताओं की स्थापना में पीछे ही रहे हैं । इनके अलंकार संबंधित मान्यताएं बहुत कम रूप में विकसित हुई हैं ।

आधुनिक काल की भी ऐसी कई रचनाएं हैं जिनमें काव्य, रस, ध्वनि के साथ - साथ अलंकारों पर भी विचार किया गया है ।इसमें अधिकांश संस्कृत के अनुवाद हैं ।इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं - कुवलयानंद, ध्वन्यालोक, काव्यादर्श, साहित्यदर्पण, काव्यकल्पलता, काव्य मीमांसा, रसमंजरी, औचित्य विचार चर्चा, कविकण्ठाभरण, दशरूपक आदि । स्वतंत्र रचनाओं में के.सीता रामय्या जी का अलंकार तत्व विचार, एस.राघवन जी की अलंकार मंजरी, वीरेशलिंगम पंतुलु कृत "काव्य लक्षण" उल्लिखित हैं । अलंकार मंजरी में काव्य, रस, ध्वनि, गुण, रीति और अलंकारों का "काव्य प्रकाश" की पद्धति पर विस्तृत विवेचन किया गया है । स्वर्गीय टी.कृत्तिवास तीर्थुलु ने अपने "गीर्वाण रूपक" में संस्कृत - रूपक के उद्भव, इतिहास और विकास पर विचार किया है तथा रूपक के अनेक भेद प्रभेदों की चर्चा की है । स्वर्गीय श्री.वी.सदाशिव शास्त्रि ने "काव्यालंकार संग्रह" के "रस विषयक" अध्याय पर समीक्षात्मक टीका लिखी । श्री सन्निधानम सूर्यनारायण शास्त्री ने भी

"काव्यालंकार संग्रह" पर एक विशद टीका में अलंकार संबंधी विषय पर विचार करते हुए संस्कृत आचार्यों के मानदण्डों को अपनाया है । संस्कृत अलंकारों के इतिहास के संबंध में भी तेलुगु साहित्य में कई मौलिक रचनाएं हुई हैं । संस्कृत और तेलुगु में अलंकार शास्त्र का समन्वय करने की दृष्टि से भी शोध कार्य हुआ है । शब्दालंकारों , अर्थालंकारों पर विचार किया गया है ।प्राचीन एवं आधुनिक तेलुगु कविताओं के उदाहरणों के माध्यम से अलंकारों का विवेचन किया गया है ।

तेलुगु साहित्य में प्रबंध युग में अलंकार प्रधान कृतियों की ही रचना हुई है । लगभग 19वीं शती के आरंभ तक प्रबंधों की रचना चलती रही । क्रमानुगत कुछ कवियों में शब्दालंकारों की रुचि बढ़ती गयी । अब तक जिन कवियों ने, लेखकों ने रस को व ध्वनि को काव्यात्मा मानते रहे लेकिन इन लोगों तक आते - आते उनकी वह मान्यता बदल गयी और वे अलंकारों में शब्दालंकारों को ही अत्यधिक महत्व देते हुए उनकी ओर झुकने लगे । स्वर्गीय कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु जी का खंड काव्य "सरस्वती नारद संवादमु" में अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट होता है ।

तेलुगु के प्रबंध काव्यों में यद्यपि संस्कृत के अलंकार पूर्व के महाकाव्यों के लक्षणों का निर्वाह किया जाता है तथापि उनकी अपनी विशेषता वर्णनों की प्रचुरता है । प्रबंध काव्यों में कथाकथन की अपेक्षा अलंकारों का प्रयोग करने के लिए कथा प्रसंग में आए पुर, सिन्धु, नग, ऋतु , शशि आदि अष्टादश वर्णन को भी महत्व दिया जाता है । प्राचीन पुराणों में से किसी कथा को आलम्बन रूप में ग्रहण कर कविजन अपने वर्णन - चमत्कार से, श्रृंगार रस प्रधान तथाआलंकारिक शैली में सुन्दर प्रबंध काव्य की रचना करते थे । तेलुगु काव्यों आमुक्तमाल्यदा, कविकर्ण रसायन, वसुचरित्र, मनु चरित्र आदि कृतियां अलंकारों के विकास में उल्लेखनीय हैं ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में भी अलंकारों का प्रवाह गतिमान है, क्योंकि बिना कोई अलंकार के वह साहित्य कलात्मक नहीं है । आधुनिक तेलुगु साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव के कारण कुछ अत्याधुनिक विचारक मानते हैं कि बिना कोई अलंकार के प्रयोग से रचना कर साहित्य में नवीनता लाएँगे । लेकिन भाव, पद, प्रत्यय कहीं न कहीं अलंकार का प्रयोग सामाजिक दृष्टिकोण से होना स्वाभाविक है । अलंकारों का विकास आधुनिक तेलुगु साहित्य में प्रबंध युग से भिन्न रूप में हुआ है । जैसे अतिशयोक्ति का प्रयोग इस काल में नहीं हुआ है । प्रतीकों के रूप में अलंकारों का प्रयोग हुआ है जैसे गुलाब का फूल नेहरू के सोशलिज्म के लिए, लाल रंग कम्यूनिज्म के लिए । ये अलंकार मार्ग ही है ।

§3§ तेलुगु साहित्य में ध्वनि सिद्धांत का विकास :

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि - सिद्धांत महत्वपूर्ण है और उसकी व्याख्या आनन्दवर्धन ने विशेष रूप से की है । जैसे संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत ध्वनि के भेदों की चर्चा लक्षणामूलक ध्वनि एवं अभिधामूलक ध्वनि में की है वैसे ही तेलुगु साहित्य के प्राचीन कवि नन्नया, तिक्कना, एर्रना, श्रीनाथुडु, पोतना आदि ने की है ।

आदिकवि नन्नया ने अपनी "प्रसन्नकथा कलितार्थयुक्ति में अर्थालंकारों अक्षर रम्यता के साथ- साथ ध्वनि की भी साधना की है । उनके विचारानुसार अक्षरों से जन्म लेने वाली अक्षर रम्यता श्रवण के लिए अति मधुर है । नन्नया ने ध्वनि -सिद्धांत में काव्य के तीन भेदों के अनुसार उत्पन्न होने वाली तीनों ध्वनियों का अपनी कृतियों में प्रयोग किया है । वे हैं- रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि । नन्नया ने "भारतमु" के "आदिपर्व" में

नागस्तुति करते हुए "स" वर्ण की कई बार आवृत्ति कर नाग की ध्वनि का एहसास दिलाया है । उसी प्रकार समुद्र आदि का वर्णन करते हुए अलंकार ध्वनि व वस्तु ध्वनि के समन्वय से लहरों का आभास दिलाया है । "अरण्य पर्व" में "र" वर्ण की पुनरावृत्ति कर भीम की वीरता को व्यक्त किया है । नन्नया के समकालीन कवि नारायण भट्ट" पाकुलुरि मल्लना, वेमुलवाड भीम कवि आदि ने भी अपनीकृतियों में ध्वनि सिद्धांत का प्रयोग किया है ।

पाल्कुरिकि सोमनाथुड़ ने बसवपुराणमु "पंडितराध्य चरित्रमु" में और अपनी संस्कृत रचनाओं में भी "रगडा" का प्रयोग करते हुए वस्तु ध्वनि व शब्द ध्वनि का प्रयोग किया है । शिव कवि युग के अन्य कवियों की रचनाओं में शिव भक्ति पूर्व रस ध्वनि का आभास होता है ।

तिक्कना द्वारा तेलुगु में अनूदित संस्कृत "भारतमु" में तो रस ध्वनि अंलकार ध्वनि साथ - साथ दृष्टिगोचर होते हैं । इसके अलावा उनकी रचनाएं विजय सेनमु और कृष्ण शतकमु में भी रस ध्वनि मिलती है । कवित्रयमु के अंतिम कवि एर्रना ने रामायणमु, हरिवंशमु, अरण्य पर्व शेषमु की रचना की और इसमें इन्होंने नन्नया का अनुसरण ध्वनि में भी किया है । इनके समकालीन मल्लिकार्जुन भट्ट पशुपति नागनाथ कवि की रचनाओं में भी ध्वनि है ।

श्रीनाथुड़ ने अपनी रचनाओं - मरुत्तरट्चरित्रा, शालिवाहन सप्तशति, पंडितराध्य चरित्र और श्रृंगारनैषधमु में ध्वनि सिद्धांत के सूत्रों का प्रयोग किया है । पोतना ने वीरभद्र विजयमु, भोगिनीदंडकमु, नारायण शतकमु, आन्ध्र भागवतमु में संस्कृत काव्य सिद्धांत ध्वनि को अपनाया है । श्रीनाथयुग के ही एक अन्य कवि पिल्ललमर्रि पिनवीरभद्रुड़ ने श्रृंगार शाकुंतलमु में रस ध्वनि का अनुसरण किया है ।

प्रबंध युग में श्रीकृष्णदेवरायलु के आस्थान के अष्टदिग्गज कवि जैसे पेद्दन्ना, धूर्जटि, तेनालि रामकृष्ण आदि ने अलंकार ध्वनि का प्रयोग किया है । इस प्रकार प्रबंध युग के अन्य कवियों की रचनाओं में शब्द ध्वनि अलंकार ध्वनि, रस ध्वनि प्रकट होती है । रघुनाथ नायक, चेन्कूर वेंकट कवि, वेमन्ना आदि ने अपनी अपार रम्यता से ध्वनि का निर्वाह अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है ।

तेलुगु के कवियों ने अपनी कविताओं के कथानक के मध्य जहाँ कहीं भी अवसर मिला है वहीं अपने काव्य के गुणों का सांकेतिक रूप में वर्णन किया है । पिंगलि सूरन्ना ने अपनी कृति "कलापूर्णोदयम" में ध्वनि सिद्धांत के बारे में अपनी मान्यताएं स्थापित की हैं - "चलुवगल देन्नेगल चेलुवुनकु, "पौसग मुत्तेपुसल्ल मोहलिंचिलीनल" और "प्रभावतीप्रद्युम्न" में "शब्द शंकर मेच्चतानु जरगनीक" कहकर शब्दों की पवित्रता और उनसे आविर्भाव होने वाली ध्वनि की महत्ता के बारे में कहा है ।

आधुनिक युग की कविताओं में प्राचीन कवियों के समान ध्वनि का प्रयोग कम हुआ है । इसके लिए एक कारण "वचन कविता" के रूप में मुक्तछंद का अत्यधिक प्रचलन दिखाई देता है ।

(4) तेलुगु साहित्य में औचित्य सिद्धांत का विकास :

संस्कृत आचार्य क्षेमेन्द्र, जो औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक हैं, से गृहीत विचारों का तो प्रयोग तेलुगु साहित्य में हुआ है लेकिन काव्य की आत्मा "औचित्य" को लेकर तेलुगु में कोई गहन विचार नहीं हुआ है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के जो भेद किए हैं उनका अनुसरण तेलुगु साहित्य के प्राचीन तथा आधुनिक कवियों ने किया है । ये भेद इस प्रकार हैं - पद, वाक्य, प्रबंध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण,

उपसर्ग, निपात, देश, काल, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, सार संग्रह प्रतिभा, अवस्था विचार, नाम आशीर्वचन आदि । औचित्य के सत्ताईस भेद क्षेमेन्द्र ने किये हैं और उपर्युक्त सभी गुणों का पालन तेलुगु साहित्य की रचनाओं में हुआ है ।

नन्नया ने देश, काल, कुल, व्रत आदि के औचित्य का निर्वाह अपने "भारतमु" में किया है । तिक्कना ने क्षेमेन्द्र के औचित्यमु रससिद्धस्य स्थिरमु काव्यस्य जीवितमु का निर्वाह करते हुए कहा है कि अलंकार के गुणों के लिए औचित्य ही मूल सिद्धांत है । तिक्कना ने रस पोषण में औचित्य पूर्ण दृष्टि अपनायी है । इसलिए भारतमु के अनुवाद में इन्होंने स्वेच्छपूर्वक मूल का अतिक्रमण कई स्थानों पर किया है । इसके लिए "विराट पर्वमु" में अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

ऐसे ही श्रीनाथुडु ने भी अपनी कृति "श्रृंगारनैषधमु" में औचित्य का निर्वाह महिलाओं के श्रृंगार वर्णन विषयों में किया है, जो कि संस्कृत में अर्थात "श्रृंगार नैषधमु" के मूल कथा में नहीं हैं ।

तेलुगु साहित्य के अन्य कवियों ने भी सिद्धांत का अनुसरण करते हुए रचनाएं की हैं जिनमें से मुख्य हैं - गोरना, जक्कना, अनंतामात्युडु, पिल्ललमर्रि पिनवीर भद्रुडु, सूरनादि ।

(5) तेलुगु साहित्य में रीति सिद्धांत का विकास :

संस्कृत के आचार्य वामन द्वारा प्रतिपादित रीति संप्रदाय - "विशिष्ट-पदरचना रीतिः" का विकास प्राचीन व आधुनिक तेलुगु साहित्य में हुआ है । रीति के गुणों का निर्वाह किया गया है । माधुर्य, सरचना कोमलता, उदारता, प्रौढि सामयिकता और राग का प्रयोग हुआ है । तेलुगु साहित्य

में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता जो रीति के गुण हैं इनका भी उचित रूप से प्रयोग हुआ है। गुण और अलंकारों का परस्पर संबंध होने से ये काफी मात्रा में तेलुगु साहित्य के प्राचीन काव्यों में प्रबंध काव्यों तथा छंद काव्यों में पाये जाते हैं।

आन्ध्र शब्द चिंतामणि, हरिवंशमु, श्रृंगार नैषधमु, हर विलासमु, वीरभद्र विजयमु, श्रृंगार शाकुंतलमु, आमुक्त माल्यदा, मनुचरित्रमु, परिजातापहरणमु, विजयविलासमु में श्लेष, माधुर्य, कोमलता का आदि ग्रंथों रीति के गुणों का वर्णन किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीति सिद्धांत पर स्वतंत्र विवेचन तेलुगु साहित्य में नहीं मिलता किन्तु रीति के संघटक तत्वों का काव्य रचना में पालन अवश्य किया गया है।

§6§ तेलुगु में वक्रोक्ति सिद्धांत का विकास :

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रतिष्ठापक कुंतक के "वक्रोक्ति" का अभिप्राय "विचित्र" से था। कुंतक के अनुसार "सहृदय -हृदयाह्लाद कारिणी" वक्रोक्ति है। तेलुगु साहित्य के प्राचीन कवि वक्रोक्ति के इसी गुण पर विशेष रूप से रीझे है। वे मानते हैं कि शास्त्र तथा लोक - व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द अर्थ की रचना से वक्रोक्ति को स्पष्ट किया जा सकता है। तेलुगु के प्राचीन कवि यह मानते हैं कि अलंकृत होने पर ही काव्य की काव्यता है जो कि कुंतक का भी मत है। आदि कवि और कवित्रय माने जाने वाले कवियों ने अपनी रचनाओं में इस विषय का ध्यान रखा।

तेलुगु साहित्य के रायलु युग या प्रबंध युग के कवि अल्लसानि पेद्दना की रचनाओं में वक्रता अधिक है। इनका मत कुंतक के मत से मिलता है, वह यह है कि काव्य मर्मज्ञ सहृदयों के आह्लादकारक सुंदर वक्र कवि व्यापार

से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं ।यह बात "अल्लसानि अल्लिक जिगिबिगि" में है ।

तेलुगु साहित्य में अनूदित महाकाव्यों, प्रबंध काव्यों, खंड काव्यों, कविताओं में वक्रोक्ति के पुट देखने को मिलते हैं ।

अंत में यह कह सकते हैं कि भारतीय काव्य शास्त्र के संस्कृत सिद्धांतों का विकास एवं अनुसरण तेलुगु साहित्य में यथोचित रूप में हुआ है । इसके अलावा संस्कृत के छंद शास्त्र का भी प्रभाव तेलुगु साहित्य की प्राचीन कृतियों एवं प्रबंध व खंड काव्यों पर प्रचुर मात्रा में रहा है । तेलुगु साहित्य में वर्णिक छंद और मात्रिक छंद दोनों हैं । संगीतात्मकता बनी रहने के लिए अन्त्यानुप्रास छंद का प्रयोग भी तेलुगु में हुआ है ।

तेलुगु साहित्य में गणों का स्मरण करने के लिए संस्कृत का सूत्र - "यमाताराजभानसलगा" का शत - प्रतिशत व्यवहार में लाया गया है ।

पाल्कुरिक सोमनाथुडु, जो शिव कवि युग के माने जाते हैं उन्होंने संस्कृत के "अनुष्टप" छंद का तेलुगु में द्विपदों में प्रयोग किया है जो तेलुगु में द्विपद के छंद का मूल है ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में मुक्त छंद का आविर्भाव बीसवीं शती के आरंभ में हुआ । छंद के संबंध में संस्कृत छंदशास्त्र के सिद्धांतों और मापदंडों में परिवर्तन हुआ है । आधुनिक काल में छंद का मूल तत्व लय है । इस तत्व के कारण काव्य में सौन्दर्य, संगीतात्मकता आदि का प्रयोग होता है ।

1\. रसोल्लासम्, पृ. 14

2\. -वही- पृ. 15

3\. -वही- पृ. 30

4\. -वही- पृ. 121

5\. -वही- पृ. 122

अध्याय - 4

हिंदी में "पाश्चात्य काव्य शास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास"

अध्याय - 4

हिंदी में "पाश्चात्य काव्य शास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास"

पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आदि स्त्रोत यूनान रहा है । यूनान के दार्शनिकों, विचारकों एवं काव्य - चिंतकों ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन ईसा से चार - पांच शताब्दियों पूर्व किया था, उन्हीं के अनुसरण में परवर्ती युग में यूरोप के विभिन्न विचारक हुए हैं ।

पाश्चात्य आलोचना का विकास चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से यूनान में होता है । प्लेटो के विचार कला को अग्रूप मानते हैं । इसके कई कारण दिए गए हैं । उनके बाद अरस्तू प्लेटो के दृष्टिकोण को एक नए ढंग से देखते हुए काव्य की महत्ता को स्थापित करते हैं । लोंजाइनस ने काव्य संबंधी इन तात्त्विक प्रश्नों पर विचार न करके, साहित्य -तत्व का विवेचन और स्वरूप - निरूपण किया । इसी प्रकार आलोचक होरेस काव्य के औचित्य पर पर्याप्त विचार करते हैं और अभिव्यंजना पक्ष को अपनी आलोचना में

स्थान देते हैं । तद्पश्चात दाँते कालवस्तु के चुनाव को महत्वपूर्ण मानते हैं । अतः पाश्चात्य काव्यसिद्धांतों का विवेचन करने से पूर्व इन पाँच आलोचकों के विचारों का अध्ययन करना आवश्यक है ।

1. प्लेटो :

पाश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टि से सबसे पहले यूनानी दार्शनिक प्लेटो का नाम लिया जा सकता है जो 427 ई. पू. से 347 ई.पू. तक थे । वे यूनानी विद्वान सुकरात के शिष्य थे । प्लेटो के आलोचनात्मक दृष्टिकोण की रूपरेखा उनकी पुस्तकों, "दि रपब्लिक" {गणराज्य} "दि स्टेट्समैन" {राजनेता}, दि लाज {विधि} में व्यक्त काव्य - संबंधी विचारों के आधार पर की गई है । सबसे पहला प्रतिमान जो प्लेटो ने निर्धारित किया वह यह है कि कवि ईश्वरीय प्रेरणा से काव्य रचना करता है । उनका यह दृष्टिकोण आगे चलकर आलोचकों में व्यापक तर्क का आधार बना । बाद के आलोचकों ने प्लेटो के इस प्रतिमान का खंडन भी किया । प्लेटो का इस संबंध में यह दृष्टिकोण था कि प्रेरणा ही काव्य रचना का हेतु है । ईश्वर से प्रेरित होने के कारण ही कवि अपने गायकों को और गायक अपने श्रोताओं को प्रेरित करपाते हैं ।

प्लेटो के गुरु सुकरात उपयोगितावाद के संस्थापक माने जाते हैं, क्योंकि वे शिव {Good} उसी को मानते हैं जो उपयोगी हो । प्लेटो ने भी उसी साहित्य को सुंदर माना जो सत्य और शिव है । जो साहित्य समाज के लिए उपयोगी नहीं है, उसे प्लेटो ग्राह्य नहीं मानते । इस प्रकार प्लेटो ने साहित्य का मूल्य और प्रयोजन उसकी सामाजिकता को मानते हुए, सबसे पहले साहित्य को सामाजिक उपयोगिता और सामाजिक नैतिकता से संबद्ध किया ।

इस सामाजिकता की परख में ही प्लेटो ने सबसे पहले इस तथ्य का निरूपण किया कि कलाएं अनुकृतिमूलक होती हैं और उनके द्वारा जगत के

मूलभूत सत्यों की अभिव्यंजना होती है । प्लेटो के अनुकरण का यह सिद्धांत दर्शन और प्रयोजन इन दो कारणों के आधार पर काव्य या नाटक को देखता है । दर्शन के आधार पर प्लेटो पहला स्थान प्रत्यय (Idea) को देते हैं । दूसरा उसके प्रतिबिंब या आभास को और तीसरा स्थान वे वस्तु जगत को यथार्थ मानते हुए, ईश्वर को उसका स्रष्टा मानते है । वस्तु - जगत जो यथार्थ का अनुकरण है, उसके कारीगर को उसका निर्माता (Maker) मानते हैं और कला - जगत को जो वस्तुजगत के अनुकरण का अनुकरण है, उसके कलाकार को अनुकर्ता (Imitator) मानते हैं । इस प्रकार कला को मूलभूत सत्यों की नकल मानते हुए, वे काव्य को अग्राह्य कहते हैं अर्थात प्लेटो ने कला के संदर्भ में अनुकरण शब्द का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में किया है । बाद में उनके इस दृष्टिकोण की व्यापक आलोचना हुई । काव्य और कवियों के प्रति प्लेटो की इस असहिष्णुता का प्रतिवाद हर युग के विचारकों और कवियों ने किया । उन्हीं के शिष्य अरस्तू का "विरेचन सिद्धांत" वास्तव में कवियों पर लगाए गए अभियोग का उत्तर है ।

प्रारंभिक दशा में एक दार्शनिक की ओर से काव्य औरकला संबंधी इतने विचारों का व्यक्त होना ही अपने आप में महत्वपूर्ण है । वे सबसे अधिक महत्व काव्य या कला से उत्पन्न होने वाले प्रभाव को देते हैं ।

कविता की बुराई करते हुए भी उसकी प्रकृति एवं प्रक्रिया के बारे में प्लेटो ने जो संकेत दिए थे, वे अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं । एक तो उन्होंने कविता को अनुकृति बताकर काव्य मीमांसा के क्षेत्र में एक ऐसे सिद्धांत की प्रतिष्ठा की, जो आगे चलकर परवर्ती युग में विकसित हुआ औरकाव्य समीक्षा का आधार बना । दूसरे उन्होंने काव्यानुभूति का स्वरूप आनंददायक और उसका आधार भावोद्वेलन को स्वीकार करते हुए आस्वादन प्रक्रिया के आधार भूत सूत्रों की स्थापना की ।

2. अरस्तू :

पाश्चात्य काव्य शास्त्र के निर्माताओं में प्लेटों के शिष्य अरस्तू (384 - 322ई.पू.) का वही स्थान जो भारतीय काव्य शास्त्र भरत मुनि का है । अरस्तू के काव्य शास्त्र "पेरिपोरातीक्स" का एक अंश ही प्राप्त हुआ है । यह लगभग 50 पृष्ठों की छोटी सी पुस्तिका है । अरस्तू ने काव्य को समझने के लिए सबसे पहले एक वैज्ञानिक आधार दिया । वस्तु को समझने के लिए उन्होंने चार बातें आवश्यक मानी - प्रयोजन, उत्पादन कारण, निमित कारण और तत्व । उनका यह कहना बहुत ही वैज्ञानिक है कि किसी वस्तु का निर्माण तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक उसका कुछ प्रयोजन न हो । प्रयोजन के साथ ही उत्पादन की भी जरूरत होती है और उसका उपयोग करने वाले की भी जो निमित्त है और फिर जिस वस्तु का निर्माण होना है, उसके तत्वों की जानकारी भी होनी चाहिए ।

इस वैज्ञानिक आधार के साथ - साथ अरस्तू ने प्लेटों के उस दार्शनिक प्रश्न पर भी विचार किया जिसमें प्लेटों कविता को अनुकृति ही अनुकृति मानते हुए, उसे वास्तविकता से दुगना दूर मानते हैं और नैतिक आधार पर कवियों और कविता के बहिष्कार का आदेश देते हैं । अरस्तू ने अपने गुरू की मान्यताओं का सीधा खंडन नहीं किया । लेकिन कविता क्या है, इस मूलभूत प्रश्न का विवेचन करके उन्होंने कविता और कला को दर्शन और नैतिकता से अलग एक स्वतंत्र और महत्वपूर्ण मानव क्रिया का गौरव प्रदान किया । अपने विरेचन (Catharsis) के सिद्धांत का प्रतिपादन करके काव्य और कला के उदात्त प्रभाव पर प्रकाश डाला । काव्य के संबंध में उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उनके विचारों को व्यापकता दी । वे कहते हैं "काव्य के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत केवल काव्य पर नहीं बल्कि काव्य के विविध भेदों, उनके विशिष्ट प्रयोजनों, कथानक की संरचना, उसके छंदों की रचना, प्रकृति या इनसे संबद्ध अन्य विषयों पर भी मैं विचार करना चाहता हूँ ।" इस प्रकार

उन्होंने काव्य के माध्यम, विषय और पद्धति को काव्य के भेदक तत्वों के रूप में सामने रखा, ये भेदक तत्व इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि प्लेटो की काव्य - विरोधी धारणा विषय - वस्तु पर केंद्रित थी और उसमें माध्यम और पद्धति का अभाव था ।

अरस्तू ने प्लेटो की भांति काव्य की उत्पत्ति का कारण भी केवल अनुकरण नहीं माना बल्कि उन्होंने सामंजस्य (Harmony) तथा लय (Rythem) ने "ट्रैजिडी" की जो व्याख्या की है वह पाश्चात्य आलोचना का आधार-स्तंभ मानी जाती है । दुखान्तक की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि "ट्रैजिडी" किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुभूति का नामहै, जिसकी भाषा - भिन्न - भिन्न भागों में, भिन्न - भिन्न रूप से प्रयुक्त आनंदायी उपकरणों से अलंकृत होती है । इस अनुकृति का रूप वर्णनात्मक न होकर नाटकीय होता है जिसके कार्य व्यापार में करुणा तथा त्रास की भावनाओं का उद्रेक करने वाली घटनाओं की योजना रहती है ताकि इन मनोविचारों का उचित विरेचन किया जा सके ।" दुखान्तक की इस परिभाषा के साथ ही अरस्तू ने उसके छः अंग भी निर्धारित किये हैं - कथानक (Plot) चरित्र (Character) विचार (Thought), पदयोजना (Diction) गीत (Song) दृश्य (Specticals) इनमें से उन्होंने कथानक को सबसे महत्वपूर्ण माना । कथानक मात्र नहीं था बल्कि घटनाओं की संरचना (Structure of the incidence) था ।

अरस्तू ने कथानक को ट्रैजिडी की आत्मा कहा । इसलिए उनकी आलोचना भी की गई क्योंकि चरित्र इत्यादि को इन्होंने गौण स्थान दिया ।

अरस्तू ने पहली बार इतिहास और काव्य का भेद किया उन्होंने कहा कि इतिहास उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और काव्य में उसका वर्णन रहता है जो घटित हो सकता है और इसलिए काव्य का स्वरूप

इतिहास से भव्यतर है । बाद में अरस्तू ने सर्वप्रथम ललित कला और उपयोगी कला का भेद किया । उनका मत था कि कला प्रकृति का अनुकरण है । प्रकृति शब्दा का प्रयोग भी अरस्तू ने साधन या कारण के रूप में करते हुए कला को प्रकृति का अनुकरण माना और कला को प्रकृति का पूरक माना । अरस्तू की ये स्थापनाएं पाश्चात्य सौंदर्य शास्त्र की मूलाधार बन गई । अरस्तू का काव्यशास्त्र विवरणात्मक - आलोचना का उत्तम और प्रथम उदाहरण है ।

3. लोंजाइनस :

यूनानी काव्य शास्त्र में अरस्तू के बाद लोंजाइनस का नाम ही उल्लेखनीय है । उन्होंने प्लेटो और अरस्तू द्वारा उठाए गए काव्य संबंधी तात्विक प्रश्नों पर विचार न करके, एक नई दृष्टि से साहित्य तत्व का विवेचन और स्वरूप निरूपण किया । लोंजाइनस की यह सबसे बड़ी विशेषता है । काव्यानुभूति को लोंजाइनस ने मनुष्य की उच्चतम प्रकृतियों में से एक माना । पाठक या श्रोता पर उदात्त प्रभाव डालने को ही उन्होंने साहित्य का लक्ष्य, प्रयोजन, औचित्य और मूल्य माना । इस दृष्टि से ही पाश्चात्य आलोचकों ने उनके काव्य में "उदात्त तत्व" के सिद्धांत को महत्व दिया । इन्होंने औदात्य के गुण को ही महान लेखक की विशिष्टता माना और जिसकी कृति में यह गुण हो, उस कृति को स्वत: आनंददायी कहा । किसी काव्य - कृति में यह गुण तभी उत्पन्न होता है, जबउसका लेखक महान विचारों की अवधारणा से पूर्ण हो और इस पूर्णता के साथ लोंजाइनस विशिष्ट शैली, वाक्य विन्यास, शब्द योजना औरअलंकरण के प्रश्न को भी उठाते हैं । साहित्य की महानता का यह मानदंड लोंजाइनस ने ही निर्धारित किया ।

4. होरेस :

होरेस [65 ई. पू. से 8 ई.पू. तक] रोमी कवि और आलोचक थे । होरेस के काव्य संबंधी विचार पत्र के रूप में प्राप्त होते हैं । होरेस

को यूनानी साहित्य का और अरस्तू का भक्त माना जाता है और इसलिए उसे रूढ़िवादी भी कहा गया है । इसका एक कारण यह भी है कि होरेस की यह मान्यता है कि जो कृति काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी हो, उसे ही आदर्श मानना चाहिए । यह सच है कि होरेस ने पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों का मंथन ही किया । लेकिन कविता के रूप तत्व के संबंध में जो व्यावहारिक सुझाव उन्होंने स्पष्ट शब्दों में दिये हैं, उनका अपना महत्व है । रचना शिल्प, काव्य शैली, शब्दों की आत्मा आदि काव्य के बाह्य पक्ष का निरूपण करते हुए होरेस ने जो विचार व्यक्तकिये हैं, वे बहुत महत्वपूर्ण हैं । रचना में विषय की सरलता पर उनका सबसे अधिक बल है । वे पहले पाश्चात्य आलंकारिक है, जिन्होंने गद्य के रचना - शिल्प पर भी विचार किया । शब्दों का चयन, स्पष्टता, संक्षिप्त में अधिक कहने की क्षमता, विशिष्ट रूप विन्यास, सहजता, प्रभाविष्णुता और हास्य व्यंग का पुट गद्य के लिए अनिवार्य माना ताकि वह हृदय पर सीधा प्रभाव डाल सके । इसके साथ ही शैली और वाक्य विन्यास, शब्द-ध्वनि और लय को भी उन्होंने गद्य रचना के लिए अनिवार्य माना ।

होरेस के सभी विचार औचित्य को काव्य रचना का प्रधानगुण मानते हैं । विषय, भाव, भाषा, छंद के औचित्य के प्रति उन्होंने पहली बार स्पष्ट शब्दों में कहा । होरेस की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी आलोचना निर्देशात्मक है अर्थात वे इस बात पर विचार करते हैं कि रचना कैसी होनी चाहिए । इसका कारण यह है कि उन्होंने काव्य पर एक रचनाकार की दृष्टि से विचार किया ।

5· दांते :

13वीं शती में एक इतावली कवि के रूप में दांते का जन्म हुआ । दांते को सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जाता है । दांते ने अपने

महाकाव्य "डिवेन कावेडी" की रचना जनबोली इतालवी में की और काव्य में जनसामान्य प्राकृत भाषा का प्रयोग करके भी उसको ग्राम्यता और क्षुद्रता से बचाने की कोशिश की ।

दांते ने काव्य रचना में दो तत्वों को प्रधान माना -- §1§ काव्य की विषय वस्तु का चुनाव §2§ उसके अनुरूप भाषा का प्रयोग । दांते का यह दृष्टिकोण उल्लेखनीय है कि यदि काव्य विषय महान न हो तो रचना कौशल के आधार पर ही महान कविता की रचना नहीं हो सकती । इसके लिए उन्होंने तीन विषयों को उपयुक्त बताया - देश प्रेम, नारी प्रेम और ईश्वर भक्ति । इन विषयों की सम्यक अभिव्यक्ति के लिए, इन्हें अभिव्यक्त करने वाले शब्दों का सावधानी से प्रयोग होना चाहिए । इस पर भी दांते ने विस्तार से चर्चा की । दांते पहले आलोचक हैं जो काव्य रचना को एक यत्न - साध्य साधना के रूप में देखते हैं और विश्लेषित करते हैं ।

11. आधुनिक पाश्चात्य आलोचना दृष्टि :

पाश्चात्य आलोचना में 16वीं शती के अंत तक होरेस और दांते के बाद कोई उल्लेखनीय आलोचक नहीं हुआ । इस के बाद 18वीं शती में क्रोचे का नाम अभिव्यंजना के प्रवर्तक के रूप में लिया जाता है ।

1. क्रोचे का अभिव्यंजनावाद/यथार्थवादी सिद्धांत :

क्रोचे §1866 - 1952§ न केवल एक कला मीमांसक थे अपितु एक गंभीर तत्ववेत्ता दार्शनिक भी थे । उन्होंने इतिहास के स्वरूप सौंदर्यशास्त्र, मार्क्सवादी अर्थ व्यवस्था, आत्म दर्शन आदि अनेक विषयों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया । सन् 1900 में उन्होंने एक गोष्ठी में एक लेख - Fundamental thesis of an aesthetics as science of expression and general linguistics पढ़ा था । यही लेख आगे चलकर उनके

अभिव्यंजनावादी विचारों का मूलाधार बना । उनका कला - संबंधी सर्वप्रमुख ग्रंथ "एस्थेटिक" प्रकाशित हुआ जो अब विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है ।

क्रोचे के विचार प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल से प्रभावित हैंकिन्तु क्रोचे ने हीगल का अंधानुकरण नहीं किया । हीगल ने आत्मा की भी क्रियात्मक स्थिति निर्धारित करते हुए उसकी तीन प्रवृत्तियाँ मानी थीं - (1) ज्ञानात्मक (2) व्यावहारिक (3) आध्यात्मिक । क्रोचे ने इसके स्थान पर केवल दो ही मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानी (1) ज्ञानात्मक और व्यावहारिक ।

आत्मा की प्रवृत्तियाँ

- ज्ञानात्मक
  - सहजानुभूति (अभिव्यंजना)
  - विचारात्मक
- व्यावहारिक
  - आर्थिक
  - नैतिक

कला और काव्य का संबंध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति - सहजानुभूति से है ।

<u>(अ) सहजानुभूति/अभिव्यंजना :</u>

क्रोचे ने सहजानुभूति को बौद्धिक ज्ञान, प्रत्यक्षीकरण, संवेदना आदि से भिन्न बताया है । सहजानुभूति और और बौद्धिक ज्ञान की पृथकता का

का प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं "पहली बार जो मस्तिष्क में अच्छी तरह बिठा लेनी चाहिए, वह यह है कि सहजानुभूत ज्ञान को किसी स्वामी की आवश्यकता नहीं होती । उसे किसी का सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे की आँखें उधार ले, कारण उसकी आँखें स्वयं काफी तेज हैं ।

सहजानुभूति और प्रत्यक्ष बोध केअंतर को स्पष्ट करते हुए क्रोचे ने बताया है कि सहजानुभूति में यथार्थ और अयथार्थ का भेद नहीं होता जबकि प्रत्यक्ष बोध में ऐसा होता है । इसी प्रकार सहजानुभूति ऐंद्रिक संवेदनों से भी भिन्न है । सहजानुभूति अभिव्यंजना है । सामान्यत: ये दोनों दो पृथक - पृथक क्रियायें प्रतीत होती हैं किन्तु क्रोचे ऐसा नहीं मानते । उनके शब्दों में, "सहजानुभूति की क्रिया उसी अंश तक सहजानुभूति है जहाँ तक वह उसे अभिव्यक्त करती है । यदि इस उक्ति में विरोधाभास प्रतीत हो तो उसका कारण यह है कि साधारणत: "अभिव्यंजना" का प्रयोग एक अत्यंत सीमित अर्थ में गृहीत किया गया है । इसे प्राय: "शाब्दिक अभिव्यंजना" तक ही सीमित रखा जाता है । किन्तु अशाब्दिक अभिव्यंजनाएं भी होती हैं, जैसा रेखा, रंग, ध्वनि की अभिव्यंजनाएं । इन सब तक हमारी मान्यता का विस्तार होना चाहिए ।··· व्यक्ति का प्रकाशन चित्र, शब्द, संगीत या अन्य किसी भी रूप में क्यों न हो सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढूंढ ही लेती है, वस्तुत: अभिव्यंजना, सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है ।"

इन दोनों को लेकर क्रोचे ने परस्पर विरोधी बातें कहीं हैं । क्रोचे अधिक से अधिक यह कह सकता था कि सहजानुभूति अनुभूति की प्रारंभिक दशा है जबकि अभिव्यंजना उसकी अंतिम दशा । लेकिन क्रोचे ने दोनों को सर्वथा अभिन्न घोषित करके अपनी बात को अविश्वसनीय रूप दे डाला ।

(आ) सहजानुभूति/कला/अभिव्यंजना :

क्रोचे के विचार से प्रत्येक सहजानुभूति अभिव्यंजना है और प्रत्येक अभिव्यंजना कला है । अत: यदि प्रत्येक सहजानुभूति का कला कह दिया जाय तो वह बिल्कुल भी अनुचित न होगा । सहजानुभूति का संबंध केवल कलाकार से ही होता होगा, पर यह बात भी क्रोचे के सिद्धांत के अनुकूल नहीं है । क्रोचे कहते हैं कि "..यह बात भी संभव नहीं है कि छोटी सहजानुभूति का एक शास्त्र हो और बड़ी सहजानुभूति का कोई अन्य , या एक शास्त्र सामान्य सहजानुभूति का हो और दूसरा कलात्मक सहजानुभूति का हो । सौंदर्यशास्त्र केवल एक है, जो सहजानुभूति अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का हो ।"

कला और प्रकृति के बारे में क्रोचे की धारणा है कि कला प्रकृति की अनुकृति नहीं है । प्रकृति की अनुकृति का वास्तविक अर्थ सहजानुभूति ही है । अर्थात प्रकृति के स्वरूप का जो बिंब हमारे मस्तिष्क में सहजानुभूति के रूप में उदित होता है, वही कला है ।

(इ) कला/विषय/शैली - अभिन्न :

जैसे क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक ही मानते हैं वैसे सहजानुभूति और अभिव्यंजना उनके लिए एक हैं । अत: इसी आधार पर वे कला की विषय वस्तु और उसकी शैली को भी अभिन्न घोषित करते हैं उनकी मान्यता है कि जब कलाकार अपनी सहजानुभूति को अभिव्यंजना का रूप देता है तो उसमें वह नया कुछ भी नहीं जोड़ता - शैली के द्वारा वह विषय को प्रस्तुत नहीं करता, अपितु विषय ही शैली के रूप में अवतरित होता है । विषय और शैली में कोई अंतर नहीं है । इसे स्पष्ट करते हुए क्रोचे ने एक उदाहरण दिया है - "...... Like water put into filter, which reappears the same and ~~at~~ yet different on the other side."

अत: अभिव्यक्त विषय अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है ।

क्रोचे के विचार से सौन्दर्य सफल अभिव्यंजना है या केवल अभिव्यंजना ही नहीं है । इस प्रकार कुरूप या भद्दा असफल अभिव्यंजना असफल है उन कलाकृतियों में भी कहीं न कहीं गुण विद्यमान होते है, परन्तु जो सफल है उसमें भी दोष है, यह क्रोचे का स्वीकार नहीं । क्रोचे के विचार से गुण परस्पर सम्मिश्रित होते हैं, अत: उनका अलग - अलग निदर्शन कठिन होता है । उनके मतानुसार सुंदर कृतियों की कोटियां नहीं होती । असुंदर की ही श्रेणियां होती है ।

कला या अभिव्यंजना एक मानसिक क्रिया है, एक आध्यात्मिक आवश्यकता है, इसलिए क्रोचे इसे सहजानुभूति के रूप में स्वीकार करते हैं ।

क्रोचे के अनुसार कवि या कलाकार अपने अंतर्जगत की वस्तु को ही प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु को नहीं अभिव्यंजनावाद के अनुसार सौन्दर्य की सृष्टि अंतस में ही होती है ।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के कारण कला और साहित्य को दार्शनिकता बौद्धिकता, नैतिकता और उपयोगिता के नियंत्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के बाह्य एवं आरोपित चमत्कारिक तत्वों की अपेक्षा अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति को बल मिला ।

यह अभिव्यंजनवाद का संक्षिप्त विश्लेषण है जिसकी विशेषता वैयक्तिकता में निहित है । इसमें अनेक ऐसी बातें हैं जो सर्वमान्य नहीं हो सकती और जिन पर आपत्ति उठायी गयी है । फिर भी इस अभिव्यंजनावाद का महत्व है और इसके आधार पर कलावाद और काव्य में व्यक्तित्ववाद के विकास को अत्यंत बल मिला ।

§2§ मार्क्सवाद :

मार्क्स विधि - शास्त्र के विद्यार्थी थे । उन्होंने जगत के आधार भूत तत्व भौतिकता के अर्थात वास्तविक सत्य को जीवन - विधान की परि-सीमा घोषित की है, जबकि उनके दार्शनिक गुरु हेगल चेतना के अस्तित्व को, प्रस्थान बिन्दु मानते हैं । फलत: भौतिक परिसीमा में जीवन का यथार्थ एक सत्य स्थापित होता है । सामाजिकता, सामाजिक श्रम समाज और व्यक्ति, देश और आंचल, बाहर और भीतर, वास्तविक भूमि पर अपने प्रकरणों में सामाजिक विकास को प्रेरित करते हैं । अर्थात अपने संघर्षों में भौतिकीय तत्व प्रगतिरहित रूप अपनाते हैं । यह भौतिकता के संबंध में समाज की यथार्थ दृष्टि की वैज्ञानिकता है जिसका नियोजन विश्व के पदार्थों के संगठन और द्रव्य स्थिति विश्व के पदार्थों के संगठन और द्रव्य स्थिति की दृष्टि से मानव विकास को अपने उपयोग में परिणित कर लेने का सूचक बन जाता है । भौतिकता की इस मानवीय परिणित के अधिक जटिल बन जाने पर मानव अपने विचार जगत व अधिरचना को प्रभावित करता है और अपने विचारों में परिवर्तन लाता है और अपने अलावा जितने भी अन्य संसाधन हैं - प्रकृति में उनका भी उपयोग अपने लिए कर लेता है और इसीलिए पशु - पक्षियों को भी अपने साथ रखता है ।

मार्क्सवाद जैसे जाना जाता है एक राजनीतिकवाद है । यह भी कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद ही कम्यूनिज़्म का विचार तत्व है । स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में मार्क्सवाद कम्यूनिजम के रूप में, एक पार्टी - प्रतिबद्ध आचरण प्रणाली के रूप में सुपरिचित हो गया । मार्क्सवाद एक दर्शनिक वाद का आधार लेकर, अपने जन्मदाता विचारक कार्लमार्क्स से विचरित यह प्रणाली वैज्ञानिक क्षेत्र में भौतिकवादी है । सामाजिक जीवन में समाजवादी यथार्थ है ।

{अ} मार्क्सवाद तथा हिंदी आलोचना :

वेदना, निराशा, कुंठा जैसे प्रतिक्रियाशील रूपों का अन्वेषण मार्क्सवाद बाहर का मूल्यांकन भीतर से सक्रिय होने के लिए आवश्यक मानता है। स्वतंत्रता के संघर्षकाल में भारत के इन परिचित जैसे कर्मवादी, भाग्यवादी प्रवृत्तियों को मिश्रित रूप में सक्रियता के आवेगों को आघात सा लगा। किन्तु गांधी जी के सिद्धांतों के सृजनशील व्यवहार से युग की स्थिति ऐसी बनी है कि वे पिछड़े हुए देशों में आध्यात्म की मिथ्या चेतना का प्रचार अर्थात पिछड़े हुए देशों की आर्थिक हीनता व अभाव के आदर्शीकरण की प्रिय पद्धति को "हरे राम" सम्प्रदायों के द्वारा प्रचारित कराते हैं। विश्व की यह भौतिक - सामाजिक - राजनीतिक स्थिति आज भी विश्व के कोने-कोने में नये समाज के निर्माण की इच्छा रखने वाले प्रत्येक देश के सामने मार्क्सवाद को जीवित बनाये रखने की आवश्यकता और मानवीय आवश्यकता और स्वतंत्रता की प्रतिमा की प्रतिष्ठा बनाये रखती है और प्रकृति की दासता से मुक्त होने की वैज्ञानिक भावना संचारित करती है। टकराव की आवश्यकता के अनुभव नहीं होने पर उपकरणों और रूप के अनुभवात्मक ज्ञान की उपेक्षा होती है। वहाँ - वहाँ मार्क्सवाद की आवाज और संघर्ष का ज्ञान, नये-नये संसाधनों की खोज और संघर्ष सत्तात्मक चेतना की खोज आवश्यक हो जाती है।

{आ} आधुनिक हिंदी आलोचना/मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रभाव :

यदि आधुनिक हिंदी साहित्य के आलोचना पर मार्क्सवादी सिद्धांतों के प्रभाव पर अध्ययन करें तो हम अधोलिखित निष्कर्षों पर ध्यान दे सकते हैं :-

अ.1. मार्क्सवादी सिद्धांत अपने व्यावहारिक रूप में हिंदी आलोचना में विकसित हुआ। इसका श्रेय शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त,

रामविलास शर्मा, नामवरसिंह, शिवकुमार मिश्र आदि को जाता है।
डॉ० नामवर सिंह ने कृषि प्रधान भारत देश की मध्यकालीन सामूहिक भूमि में और आधुनिक भूमि में सामाजिक कला के सत्तामूलक आधारों की खोज की है। इन्होंने नई कविता आन्दोलन के वस्तुगत उपकरणों के रूप में गाँव के सरल - बोध और शहर के जटिल - बोध को जनवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों के रूप में पहचाना है। इन्होंने परंपराओं की खोज को स्थान दिया। इनकी दृष्टि मेंहजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास में मानवतावादी प्रवर्तन का परत - दर - परत व्यवस्था के आग्रह की परंपरा का विश्लेषण किया। दूसरे आलोचक रामविलास जी पंत के काव्य में जनभीरु समाज के फटे हुए व्यक्ति की प्रतिक्रिया देखते हैं और कहते हैं कि निराला के निराशावाद में पंत के आशावाद की अपेक्षा अधिक शक्ति है। एक और आलोचक शिवदान सिंह चौहान जी समझते हैं कि रेणु के उपन्यास "परती परिकथा" में लोक संस्कृतिका सौरभ है।

आ·2 मार्क्सवादी आलोचना में अन्वेषण की जगह पर खोज को प्रधानता दी जाती है। हिंदी में बहारी जगत को आत्मसात करने की पद्धति में आर्थिक और सामाजिक भूमिका की ऐतिहासिक आवश्यकता महसूस की गई है। मध्यकालीन ईश्वरीय प्रतिष्ठा और आधुनिक स्वतंत्रता प्राप्ति के दौरान स्थापित सत्यों के रूप में सामाजिक मनुष्य की प्रतिष्ठा की पहचान और उसके कारणों की खोज एवं उसकी सामाजिक व्याख्या पहली बार मार्क्सवादी आलोचना ने ही संपन्न की है। समाज के उत्पादक संबंधों और वर्ग दृष्टि से ऐतिहासिक किसान और आधुनिक औद्योगिक समाज का उभरा नया प्रतिनिधि करने वाले आन्दोलनों जैसे वास्तविक एवं भौतिक यथार्थों का व्यावहारिक दृष्टि से स्थापना हुआ है।

आ·3 भौतिकता, यथार्थ और जीवन दर्शन के समन्वित प्रयोग के रूप में राजनीतिक और साहित्यिक स्तर पर आलोचना को एक पद्धति का रूप दिया गया है जिसमें वस्तुकी यथार्थता, ऐतिहासिकता, भौतिक रूप में उसका

व्यवहार और आपसी संबद्धता और अनेक संभावनाओं के रूप में इनके अनुभव किये जाते हैं । वस्तु संबंधों में वैसे बौद्धिक विज्ञान का सहयोग लेकर अनुभावक ज्ञान के द्वारा सत्य स्थापन की कसौटी तैयार होती है । जिससे लोकपरक परिस्थितियों का स्वभाव और प्रगतिशीलता बनाम प्रगतिगमिता के रूप स्पष्ट हो जाते हैं ।

अ०4 मार्क्सवादी दर्शन को विचार स्त्रोत मानने के कारण उसके जटिल रूपों के व्यावहारिक ज्ञान का प्रशिक्षण आवश्यक है । ऐसा न होने पर बहुधा आलोचक साहित्यकार के स्त्रोतों का रचनात्मक सृजनात्मक व्यवहार समझ नहीं पाते । मार्क्सवादी आलोचना के विचार मूलक यथार्थके आधार भूत बिन्दु इतिहास, प्रभाव, मानसिक विकृति, भाषिक परिवर्तन जैसे तत्वों को प्रतिक्रियावादी चिंतकों ने इनमें से प्रत्येक अंश का अलग विरोधी सिद्धांत स्थापित किया है । जो व्यक्तिवाद, अराजक, तात्त्विक परिस्थितियों के रूप में देखने को मिलते है और रूपवाद, प्रभाववाद, मनोविश्लेषणवाद, शैली वाद के नाम से पहचाने जा सकते है ।

अ०5 सत्तमूलक आधारों पर बढ़ने वाला मार्क्सवाद नियामक, निर्देशक तत्वों की खोज में राजनीतिक मुठभेड़ के लिए तैयार हो जाता है । साहित्य भी मानव के सामाजिक अभिकर्म पर पर्दा डालने का विरोध ही करेगा । मानवीय संसाधनों का अर्थात उसके शरीर, आयु, ओज, बुद्धि को सृष्टि के अस्तित्व एवं विकास में कल्याणकारी परिणाम देने के कार्य का साहित्य भी समर्थन करते रहेगा ।

अ०6 आर्थिक, सामाजिक मनुष्य की भूमिका में सामाजिक कला विकसित कराने की पद्धति की सूचना, चिंतन और रुचिमूलक सौंदर्य का वस्तु भेद चिंतन व पृथक्करण का ज्ञान विकसित करना मार्क्सवादी आलोचना पद्धति की उपज है । आलोचनात्मक औजारों व उपकरणों के रूप में जीवन दर्शन, व्यवहार और सिद्धांत का इस पद्धति में प्रयोग हुआ है ।

निष्कर्षत: रचना और सृष्टि की आलोचना करने वाली पुन:सृष्टि और मूल्यांकनवाली चिंतन पद्धति, द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में विकसित हुई है । यह मार्क्सवादी आलोचना की निजी देना है जो जीवन और साहित्य पुनर्नवीकृत और पुनरुज्जीवित करने के लिए जीवनमूल्यों और साहित्यिक मूल्यों को सामानांतर रूप में व्यवहार में लाना चाहती है ।

3· मानवतावाद :

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मानवतावाद का अपना एक वैविध्यपूर्ण इतिहास है । यूरोप एक अनंत संभावनाओं वाली संसार रचना की समग्रता है, जिसमें असंख्य संभाव्य संभावनाओं का संग्रन्थन हैं । संस्कृति सापेक्ष या निरपेक्ष रूप या रूप की समग्रताएं यूरोप की व्यापक समग्रता के अंग हैं जो सांस्कृतिक संकीर्णता या सार्वभौमिकता का विरोध करते हैं । इसमें व्यवहारों का विनियोजन है, गणित के शुद्ध आकार में सार्थकता, मूल्य और परमार्थक रूप में विचरण करने योग्य सांस्कृतिक अनुभव में प्रतिष्ठित होते हैं । व्यक्ति के सांस्कृतिक अनुभवों के संदर्भ में सहज और आरोपित भूमिकाओं में पहचानने जा सकते हैं, जो दो प्रकार के हैं :-

(क) सहज भूमि आत्मनुभवऔर सांस्कृतिक सम्मोह की अवस्था से संबंधित होती है ।

(ख) आरोपित भूमिका में उत्तानीकृत संक्रान्ति में उपकरणों की खोज होती है । धर्मत: ऐहिक होने वाली पश्चिमी संस्कृति में न्याय का विमर्शात्मक रूप अनुभव के अधीन हो जाता है और वह स्थिति, स्थान, काल, क्रिया का समावेशी है । अत: वह अनुभव का अतिक्रामक नहीं हो सकता । वह सार्वभौतिक हो सकता है परन्तु सर्वसमावेशी नहीं बन सकता, इसीलिए कि वह लौकिक नहीं है ऐहिक होने केनाते उसकी आस्था और तर्क दोनों निम्न स्तर पर समावेश नहीं कर सकते, उदात्त स्थिति पर समावेश कर लेते है ।

भारत और पश्चिम के बुनियादी ढांचे के उपर्युक्त अंतर के बावजूद आधुनिक समय में दोनों की दृष्टि मानव संबंधी हो गयी है । बुनियादी जड़ों का सवाल, यूरोप के अलग - अलग देशों की अपनी - अपनी निजी समस्या है । संपूर्ण भारत की अपनी एक निजी परंपरा है ।वह मानव केन्द्रित परंपरा नहीं थी । पश्चिम की मानव केंद्रित परंपरा रही है । क्योंकि वहां के लोक एक नहीं है, इसलिए संस्कृति ऐहिक बन पड़ी है । ऐहिकता ने पश्चिम को मानव केंद्रित बनाया और लौकिकता भारत की चेतना का उर्जस्वित आत्मकेन्द्रित बनाया । इन मूल भूत जड़ों से कटने की स्थिति भारत के संदर्भ में वर्तमान समय में विचारणीय बनी हैं, वह है -पीड़ा बोध, विपक्ष की भूमिका और जनतांत्रिक संभावनाओं की भूमिका का मूल्यांकन रूढ़ि विरोध और मानव मुक्ति के लेखन की भूमिका और मानवतावादी सत्ता का शुभारंभ बन जाता है ।

रस मीमांसा के स्तर पर अंतर, भेद व विस्तार के रूप में प्रस्ताव करने वाले शुक्ल जी ने व्यावहारिक रूप में समाज की चित्तवृत्ति के परिवर्तन और विकास के संधान की ओर आकर्षित होने वाली मानव चेतना को बढ़ावा दिया । जातीय मूल भावों के ग्राह्य विशेष प्रत्ययात्मक रूप को शुक्ल जी ने आलंबनगत भेद से सर्वानुभव सिद्ध कराने के तरीकों में अपनाया । आचार्य शुक्ल जी की यह परंपरा प्राप्त जीवन - दृष्टि मीमांसक रूप में मानव चेतना के विकास को प्रोत्साहित करती है और मानव के उन्नत होने का समर्थन, स्थिति और परिणामों के विवेचन से संपन्न होती है ।

2. आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी हिंदी की मानवतावादी आलोचना के क्रम में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं । इन्होंने छायावाद के उपकरणों के रूप में नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसिक वृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल, एक स्वतंत्र लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व को एक अनिर्दिष्ट

स्थिति जैसी व्यापक सहानुभूतिपूर्ण भावना , सहानुभूति, मोह - भ्रम, महाभिनिष्क्रमण, स्वतंत्रता, परतंत्रता, विकास, मुक्ति जैसे सामाजिक मानवीय प्रसंग कहीं स्थिति - सापेक्ष और कहीं इतिहास - सापेक्ष्य बन गये हैं। स्वतंत्रता संग्राम से लेकर आजतक भारत का इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण रहा है कि वह इतिहास कई कुतियों, अभावों, सरलीकरणों से युक्त होकर सामंजस्यता के अभाव में तनाव ग्रस्त हुआ। व्यक्तित्व की सत्ता का भाव बोध, भावों, विचारों के विस्तार की प्रक्रिया में व्यक्ति के जागृत विवेक, व्यक्तित्व की संपूर्ण संभावनाओं की पहचान वाला विधान, मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद दृष्टि, विचार की प्रक्रिया व आत्म विस्तार का जागृत विवेक, निर्णयात्मक मानवीय बिन्दुओं की प्रकल्पना अस्तित्ववाद के रूप में भौतिक समय और दिशा वाले रूप में मूल्य ग्रहण, ऐतिहासिकता वाद के रूप में मानव की विकास - प्रक्रिया के रूप ने विस्तार, जीवन के एक आलोचनात्मक कर्म के विविध परिणामों में मानव के जीने का ढ़ंग, उसकी संस्कारशीलता और विवशता परीक्षा और विचार के अंश व स्फुरण बने थे ।

यदि साहित्यिक मानवतावाद के लक्षणों पर ध्यान दें तो यह कह सकते हैं कि धर्म और राजनीति जिसने मानवता के साथ राजनीति की है उस मानवता की राजनीति का स्फुरण हीमानवता वाद है । मानवतावाद मानव की मानसिक अवस्थिति पर ध्यान देने के कारण रूपमय जगत का, भावांतरीकरण की प्रणाली में परिवर्तित होने में(Epochal transforma-tion of structural world) विश्वास करता है । इस कारण यह मानव के तथा मानव के बाह्य जगत के संबंधों को बनाकर, दोनों की सीमाओं को संकुचित कर, मानव और वस्तु जगत के विपरीत अंतर को मिटाने का प्रयत्न करता है (It does proceed in bridging over the material gap between the peoples and the material world.)

मानव इस अर्थ में जगत के विविध आवरणों में मानव की सांकेतिक शक्ति (Man behind allasmental technical force) के रूप में अपने दृष्टिकोण के बल जगत और अपने बीच के अंतर को जहां तक हो, मिटा सकते हैं या बाह्य परिस्थितियों में मानसिक शक्ति का संचालन करने में सक्षम हो जाते हैं ।

साहित्यिक मानवतावाद इस अर्थ में मानव की भावस्थिति पर शंका करने वालों की नजर से साहित्य का अस्तित्व व मानव के भाव स्फुरणों का अस्तित्व तथा भावांतरीकरण प्रणाली का अस्तित्व उद्घोषित करता है ।

मानवतावाद मानव मन की सृजन - अवस्थिति और उसके स्फुरण - रूपों की वास्तविकता के प्रतिभासित होने का तत्व प्रचार में लाता है ।

साहित्यकार और साहित्य की सृजन अवस्थिति के प्रत्यक्षीकरण और परीक्षण का संदर्भ काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण प्रसंग है। साहित्य की सामाजिक भूमिका निसंदृष्टि के क्षणों में भाववादी व विचारवादी (रोमांटिक मानवता वादी व मार्क्सवादी मानवतावादी) संदृष्टि की वकालत करते हुए मानववादी मूल्यों का समर्थन साहित्यिक मानवतावाद की अपनी विशेषता है । असामाजिक रूपवादी, उदारवादी या उत्साहवादी रूपों का विरोध वास्तव में संरचनावाद का विरोध ही कहा जाय तो मानवतावाद का नाम ही सबसे पहले आ सकता है । साहित्य को आलोचना के सामाजिक कर्म का दर्जा मानवतावाद के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । वह इसीलिए कि साहित्यकार में एक साथ सर्जक और आलोचक होने के संदर्भ प्राप्त हो जाते हैं । आधुनिक नई कविता या आधुनिक कहानी या आधुनिक गीति नाट्य जैसे अन्य सभी आधुनिक विधाओं में आधुनिकमानव मन की अवस्थिति के दोनों रूप (विचार और क्रिया) के बोध का सम्मिश्रण और उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक महसूस की जाती है ।

साहित्यिक परंपरा और साहित्यिक इतिहास में मानव को बन्धन मुक्त कर तथा यांत्रिक जीवन से मुक्त कर, मानव मन के लौकिक विकास को

या अभावों की पूर्ति को ﴾मार्क्सवादी मानवतावाद, उसका वर्ग संघर्ष﴿ या मानव विकास के किसी विस्तार को प्रोत्साहित करने वाला या आत्मगत और आरोपण के सत्य का प्रचार करने वाली जीवन पद्धति के रूप में साहित्यिक मानवतावाद का विकास होता है ।

साहित्यिक मानवतावाद इस अर्थ में दर्शन और विज्ञान के अंतर को आत्मिक और आरोपण सत्य के रूप में उपादानों की खोज करता है । उसने कुण्ठा, यौन-आकर्षण, अभिलाषा, सांसारिक उन्नति, मुक्ति, यथार्थ का उत्सर्ग, अभाव की पूर्ति जैसे उपादानों की खोज की है, जिनके विनियोग से सामाजिकता के प्रति ध्यान खींचा जाता है और विकल्प की खोज करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, साक्षात्कार प्रेरित किया जाता है- यह मानवीय प्रयास ही साहित्यिक खोज का रूप लेता है ।

सापेक्ष्य जगत के सामाजिक प्रयोजनों की दृष्टि से साहित्य का मानवतावाद, प्रेषणीयता की दृष्टि से व्यक्तित्व का अभिज्ञान, भाव संदृप्ति का विश्लेषण, आवश्यक वस्तु की खोज के प्रारूप तैयार कर जाता है । साहित्यिक मानवतावाद के बनाये जाने वाले व्यक्तिवादी प्रारूप में मानवतावादी सामाजिकता का प्रतिनिधित्व मिल जाता है ।

﴾ई﴿ आधुनिक हिंदी आलोचना में मानवतावाद का विकास :

आधुनिक हिंदी आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पंडित नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवतावाद का विकास किया है । अत: ये आलोचक इस दृष्टि से अत्यंत उल्लेखनीय हैं ।

﴾ई·2﴿ आचार्य शुक्ल जी वस्तु की द्रव्यमयता और उसकी रूपात्मक प्रयोग क्षमता पर अपनी विकासवादी दृष्टि केन्द्रित करते हैं । यह दृष्टिमयता शुक्ल जी की रूढ़ विभाव पक्ष का विरोध तो करती है परन्तु घृणित आचरण वाले

निन्दनीय पात्रों के प्रति लोक व्यवहार को मानव नियति के इतिहास के उपर रख देने का प्रयत्न करते हैं । शुक्ल जी के संबंध में सगुणात्मक, नैतिकता के आधारभूत धर्म के समर्थक होने का जो आरोप है, वह उनके चिन्तन की पद्धति से बाहर है । साथ में शुक्ल जीको मानवतावादी और भारतीय समाज और संस्कृति के प्रकाशक होने का उपक्रम निर्मित करता है और उन्हें पहली बार आधुनिक आलोचना कर्म की दशा में साहित्यिक इतिहास की आलोचना पद्धति के प्रस्तोता होने का आदर प्राप्त है ।

शुक्ल जी का यह विकासवादी मानवीय चिंतन स्त्रोत रूप की मूल संविदना, मानवीय या लोक स्वभाव के मूल बिन्दुओं में प्रक्षेपित करने का विधान व स्थितियों और परिणामों को संरक्षितकरने या विस्फोट करने की विधि है । यह संविदनात्मक विधान लोकतंत्र के पक्ष और व कर्म चेतना की सम्मिलित झांकी देखी है । इतिहास की सूखी रेखा पर तत्कालीन व्यापक उन्नति और अवनति के कारणों और रहस्यों का रंग जिनसे सामाजिक जीवन के निर्माण में हाथ बढ जाता है - ऐसे राष्ट्रीय उद्योगों का आकलन पंडित वाजपेयी जी मानव जीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि पर देखते हैं । आचार्य शुक्ल के चिंतन की तरह यहां पर नम्रता और समझौते की आवाज नहीं रहती, कवि का उद्वेग ही, जातीय उद्वेग का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वयं विभाव पक्ष बन जाता है ।

{इ.2} छायावाद पर मनुष्य की सामाजिक जीवन धारा के प्रकाशन की दृष्टि से और उसकी उपज्ञता का ग्रहण करने वाली दृष्टि से विचारने वाले वाजपेयी जी सौष्टववादी समालोचक ठहरे हैं । वे "छायावाद" नामक निबंध में लिखते हैं - आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत आध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता । नवीन जीवन प्रगति में ही आत्म सौंदर्य की झलक देखी है । पाठक के धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग कर, उच्च

समीक्षण कृष्ण काव्य को अब भी कला और भाव समीक्षा का वास्तविक विषय नहीं बनने देते ब और उनकी अनेकविध व्याख्यायें करते रहते हैं ।"
इस प्रकार के अनेक संदर्भों में वाजपेयी जी सृजन और समीक्षक तत्व के समावेश से मानव व्यक्तित्व की व्यक्ति निष्ठता से सिद्धांत प्रतिपादित कर साहित्य को जीवन के प्रतिमान बनाने के पक्ष में रहे थे । साहित्य के द्वारा प्रसारित यह मानवीय समान धर्मिता व चेतन - धर्मिता की खोज वाजपेयी जी की देन है ।

(इ.3) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को विद्वान समालोचक परंपरा से भिन्न पड़ने वाली दूसरी परंपरा के लेखक के रूप में मानते हैं । इनको नव मानवतावादी भी कहते हैं । क्योंकि इन्होंने ऐतिहासिक भ्रान्तियों और त्रुटियों को दूर करने का प्रस्ताव रखा है । साथ में जीवन के स्थायी मूल्यों का नया अर्थ और नये मूल्यों को नई भाषा देने का प्रयत्न भी किया ।

साहित्य के इतिहास के दृष्टिकोण को सांस्कृतिक निरंतरता का अस्त्र मानने वाले द्विवेदी जी कहते हैं--"इतिहास का अर्थ मनुष्य जीवन के अखंड प्रवाह का अध्ययन हो तो हिंदी साहित्य के आदिकाल का इतिहास एकदम उपेक्षणीय नहीं है, पर दुर्भाग्यवश वह सचमुच ही उपेक्षित रह गया है ।"
द्विवेदी जी मनुष्यता की जड़ को सींचाई और मनोरोगों के सामाजिक रोगों के सामाजिक उपयोगों को पहचानना और सामाजिक को (दर्शक अथवा पाठक को) काव्यार्थ की पूर्ण उपलब्धि कराने का समर्थनकरते हैं ।

(इ.4) आचार्य नगेन्द्र जी लिखते हैं कि जीवन की निरंतर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन मानववादमें ही हो सकता है । जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ इसका पूर्ण सामंजस्य है । मानव चेतना की मूल वृत्ति राग को धुरी बनाकर अन्य सभी प्रमुख तत्वों के उचित रूप में स्वीकार कर वे मानवतावाद में विश्वास करते हैं- केन्द्रीय रागतत्व ही मानव को अंतिम सत्य बनाता है और जीवन के विकास को निरंतर विकासशील बनाता है जिसका नाम मानवतावाद है ।

इस प्रकार मानवीय चेतना के सामंजस्य में ही शुक्ल जी के महत्तावादी दृष्टिकोण में, नगेन्द्र जी के प्रगाववादी दृष्टि कोण में और वाजपेयी जी के रोमांटिक भाववादी दृष्टिकोण में अंतर आ जाते हैं ।

अंत में निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि हिंदी में प्रचलित मानवतावादी आलोचना के विकास में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहित्यिक मानवता वाद की भूमिका पर ही हिंदी आलोचना प्रगतिशील हुई है । साहित्यिक जागरूकता के रूप में साहित्य को जीवन का प्रतिमान बनाने का लक्ष्य हिंदी मानवतावादी आलोचना का मुखरित लक्ष्य रहा है ।

4. <u>बिम्बवाद</u> :

बिंब रचना काव्य का मुख्य व्यापार है। बिंबों के द्वारा कवि वस्तु, घटना, व्यापार, गुण, विशेषता, विचार आदि साकार तथा निराकार पदार्थों और मानस क्रियाओं को प्रत्यक्ष एवं इंद्रियग्राह्य बनाता है । काव्य अपने इसी व्यापार में अन्य शास्त्रों या विज्ञानों से भिन्न है । बिंब को स्पष्ट करते हुए James R. Kreuzer ने अपने ग्रंथ Elements of Poetry में लिखा है-१ "The sensory appeals in Poetry which
kah have been considering are usually referred to as
images, an image being understood to be the mental
or imagined representation of any thing not
actually present to the senses." (Page 119)

इससे स्पष्ट होता है कि बिंब किसी अप्रस्तुत वस्तु का मानसिक या काल्पनिक रूप है । काव्य सदैव अप्रस्तुत वस्तुओं का कल्पनागत वर्णन प्रस्तुत करता है । अत: काव्य के अंतर्गत रूप सृष्टि इसी बिंबयोजना की क्रिया है ।

वस्तु, भाव या विचार को कल्पना एवं मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनाने वाला व्यापार ही बिंबविधान है ।

शाब्दिक दृष्टि से "बिंब" का अर्थ है प्रतिमा, आकृति, रूप, चित्र आदि । मनोविज्ञान के अनुसार जब हम इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल जगत की विभिन्न वस्तुओं की संपर्क में आते हैं, तो उनका प्रतिबिंब या चित्र हमारे मन में अंकित हो जाता है तथा ये प्रतिबिम्ब ही समय - समय पर हमारी वासना, संस्कार, स्मृति, भावना आदि को जागृत करने का कार्य करते है । ये बिम्ब एक प्रकार से संचित अनुभूतियों के रूप में हमारे अवचेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं, पर समय - समय पर स्मृति एवं कल्पना की सहायता से पुन: हमारे चेतन स्तर पर उदित होकर हमें भांति - भांति के बोध प्रदान करते हैं । कवि या कलाकार इन्हीं बिम्बों को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है, जिन्हें ग्रहण करते हुए पाठक या दर्शक सामाजिक विषय का बोध प्राप्त करते हैं । दूसरे शब्दों में बिम्ब ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रतिबिंब है, जो कि मन में अंकित हो जाता है ।

साहित्यिक दृष्टिसे बिम्ब की अनेक परिभाषाएं दी गई है । सी० डी० लेविन महोदय ने बिम्ब के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है - "काव्यात्मक बिंब शब्दों के माध्यम से निर्मित एक ऐसा चित्र है, जिसका किसी न किसी, प्रकार के ऐन्द्रिय गुण से संपर्क हो ।"[1]

राबिन स्केल्टन के विचारानुसार "बिम्ब एक ऐसा शब्द है जो कि ऐन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है ।" इसी प्रकार डा० नगेन्द्र के मत से "काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है ।"

इस प्रकार काव्य के प्रसंग में किसी भाव या विचार को तथा किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ की विशेषताओं या रूप गुणों को इंद्रियगोचर एवं

हृदयंगम बनाने के हेतु जो संप्रेषक स्पष्ट अप्रस्तुत रूपयोजना की प्रणाली अपनायी जाती है वह बिम्बवाद है ।

काव्य बिंब या काव्यगत बिम्ब के स्वरूप के सम्यक बोध के लिए उसके पाँच लक्षणों पर विचार करने से यह दृष्टिगोचर होता है कि काव्य बिम्ब का पहला लक्षण है चित्रात्मकता, दूसरा है शब्द रूपात्मकता, तीसरा है ऐन्द्रिकता, चौथा है आरोपण का अभाव अर्थात बिम्ब का वस्तु से सीधा संबंध होना चाहिए ।

किसी वस्तु, भाव या विचार को इन्द्रियगोचर बनाने केमूल व्यापार के साथ - साथ बिम्बयोजना अन्य कार्य भी सिद्ध करती है उसके व्यापार निम्नलिखित प्रकारों में देखे जा सकते हैं -

अ.1. काव्यार्थ को पूर्णतया स्पष्ट करना :

किसी भी बात को समझने के लिए कवि का या पाठक का पहला कार्य यह होता है कि उस वस्तुको अपनी कल्पना में प्रस्तुत करना । कोई भी गूढ़, दुरूह विचार हमें समझ में कठिनाई से ही आता है, पर उसे यदि रूपायित कर दिया जाय अर्थात उसकी मुख्य विशेषता को स्पष्ट करने वाली अप्रस्तुत वस्तुओं को प्रस्तुत करक उसके माध्यम से उसे समझाया जाय तो,वह शीघ्र और भली भाँति स्पष्ट हो जाता है । महान कवि अपने सूक्ष्म विचारों को प्रभावशाली रूप में सबको समझाने के हेतु वे बिम्बसृष्टि करते हैं और इस प्रकार हम भी उसकी सूक्ष्मता को समझ सकते हैं ।

अ.2. भाव को संप्रेषित एवं उत्तेजित करना :

अर्थ की स्पष्टता के समान ही, भाव की संप्रेषणा एवं उत्तेजना में बिम्बविधान का मुख्य हाथ रहता है । वास्तव में कवि अपने अंतस की तीव्र

भावानुभूति को उसी तीव्रता के साथ दूसरों तक भी पहुंचाने के लिए व्याकुल हो उठता है । इसी छटपटाहट की स्थिति में वह बिम्ब सृष्टि करता है ।

अ.3. वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष कराना :

बिम्ब योजना का सबसे अधिक प्रभावी कार्य वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष कराना है। इस कार्य द्वारा कल्पना तथा मन पर तुरन्त प्रभाव पड़ता है और वस्तु या घटना उस रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जिस रूप में कवि उसे प्रत्यक्ष कराना चाहता है । बिम्ब योजना का यह एक सहज रूप है ।

अ.4. रूप सौन्दर्य या गुण को हृदयंगम बनाना :

रूप, सौंदर्य और गुण का चित्रण काव्य में सर्वाधिक मिलता है । इस चित्रण के हेतु बिम्बविधान अत्यंत सहायक होता है । प्राचीन काल से कवि इसका प्रयोग करते आये हैं बिम्बयोजना की नव्यता इन चित्रणों में एक ताजगी भर देती है ।

इस प्रकार ऊपर बिम्ब योजना के प्रमुख कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है । बिम्ब की विशेषता को प्रमुखतया मानसिक या ऐन्द्रिय किंतु काल्पनिक अनुभूति के रूप में ही देखा गया है, जैसे रोनाल्ड पीकाक अपने ग्रंथ The art of drama में कहते हैं " Image is a revival, a reproduction by memory in the mind, of some sensuous experience undergone in the past, including the visual auditive, tactile and other impressions associated with it."

बिम्ब रचना के भीतर संभव बिम्ब विस्तार को इस प्रकार विभाजि
कर सकते हैं :-

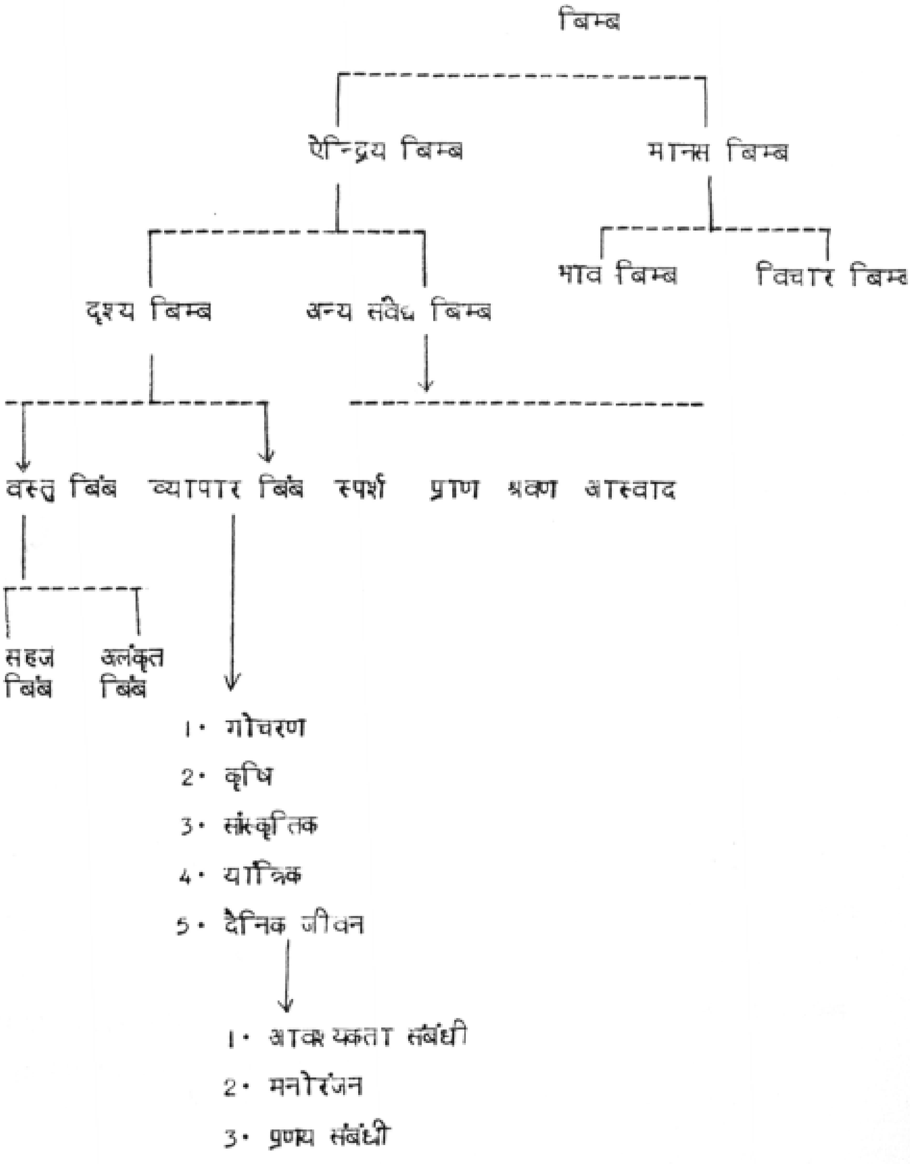

(क) ऐन्द्रिय बिम्ब के अंतर्गत दृश्य बिम्ब की प्रधान शाखा दृश्य वस्तु बिम्ब है । जहाँ पर किसी वस्तु को स्पष्ट करने के लिए दृश्य बिम्बों की योजना की जाती है । स्वाभाविक सहज रूप में दृश्य बिम्बयोजना जहाँ पर होती है, उसे सहज दृश्य बिम्ब कहते हैं । दृश्य बिम्ब का दूसरा रूप अलंकृत बिम्ब है । इसमें अनेक कल्पनाओं का जमघट सा रहता है जो वस्तु को स्पष्ट करने में सहायक होता है ।

दृश्य व्यापार - बिम्ब में किसी व्यापार के स्पष्टीकरण के लिए व्यापार बिम्ब की योजना की जाती है । ऐसे चित्रणों में गतिमय दृश्यावली प्रत्यक्ष होती है । इन दृश्यों का एवं विशेष महत्व यह है कि वे जीवन के किसी अंग का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं ।

सांस्कृतिक बिम्ब अपनी निजी विशेषता रखते हैं । इनमें किसी व्यापार को स्पष्ट करने के लिए सांस्कृतिक क्रिया कलापों के चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं । इन सांस्कृतिक बिम्बों का प्रभाव बड़ा हीपावन और उदात्त होता है । ये प्रसन्न बिम्ब एवं स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करते हैं ।

अन्य संवेद्य बिम्बों से भी काव्य में अधिक प्रधानता दृश्य बिम्बों की ही रहती है । परन्तु साथ ही साथ अन्य संवेद्य बिम्ब भी बराबर मिलते जिनका संबंध नेत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से है । जैसे इनका संबंध स्पर्श से, श्रवण से, आस्वाद आदि से हैं ।

मानस बिम्ब ऐन्द्रिय नहीं होते हैं । उनका प्रभाव इन्द्रियगत न होकर मन या चित्त पर अधिक होता है । ऐसी दशा में इन्हें मानस बिम्ब कहना अधिक उपयुक्त है । इन्द्रियगत बिम्बों के साधन स इनमें विचार - प्रेरणा अथवा भाव संचार की प्रधानता रहती है । इसी विशेषता के कारण इनमें वैचारिक या भावात्मक अनुभूति प्रमुख रहती है ।

इन भेद प्रभेदों के आधार पर हम देख सकते हैं कि बिम्ब वाद वास्तव में अप्रस्तुत योजना पर आधारित है । अत: इनका संबंध अलंकार योजना से भी रहता है । जहाँ पर बिम्ब - विभाजन बाह्य क्षेत्र - चयन के आधार पर है, वहाँ पर भी अलग - अलग मानस क्रिया - कलापों तथा संस्कारों से उनका संबंध रहता है । अभिव्यंजनावाद की तुलना में हम बिंब-वाद को प्रभाववाद (Impressionism) से संबंधित देख सकते हैं ।

बिम्ब - विधान की प्रक्रिया अर्थात बिम्ब - रचना की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने उसके तीन सोपान निर्धारित किये हैं -

1. अनुभूति का निर्वैयक्तिकरण
2. साधारणीकरण
3. शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति

इन प्रक्रियाओं द्वारा कवि की सर्जन प्रक्रिया का भी पता चलता है ।

बिम्ब के काव्यात्मक मूल्य पर जिस प्रकार अलंकार, वक्तोक्ति, प्रतीक आदि का लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य या आकर्षण उत्पन्न करना है उसी प्रकार बिम्ब योजना का भी लक्ष्य है, अत: यह काव्यात्मक मूल स्थापित करता है । बिम्ब योजना में मूल वस्तु को ही इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जिससे वह हमारी कल्पना - शक्ति को उत्तेजित करती हुई अनुभूतिगम्य हो सके । जहाँ बिम्ब - योजना से इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती अर्थात न तो वह हमारी कल्पना - शक्ति को ही उत्तेजित करती है और न ही भावानुभूति प्रदान करती है, वहाँ वह काव्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है । बिम्ब - योजना में यह शक्ति उसी स्थिति में आती है, जबकि वह भावा-नुभूति से प्रेरित हो तथा दूसरे बिम्ब अपने आप में पूर्ण हो । वस्तुत: कल्पना यदि बिम्ब की उपादिका है तो अनुभूति उसकी संगिनी है - उसके अभाव

में बिम्ब आकर्षण पूर्ण सिद्ध होता है । इसलिए कालरिज ने लिखा था -

"Images however beautiful, ... do not of themselves characterise the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by pre-dominant passion, or by associated thoughts or images awakened by that passion."

अर्थात बिम्ब चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों.... वे अपने आप में कवित्व के प्रमाण नहीं हैं । वे कवि की मौलिक प्रतिभा को उसी सीमा तक प्रमाणित करते हैं, जहाँ तक वे पूर्ववर्ती भावावेग के प्राबल्य से अनुप्राणित होते हैं या फिर तत्सम्बन्धी किसी विशेष विचार या भावावेग की अनुभूति को जगाते हैं । ऐसी स्थिति में बिम्ब को काव्य में भावानुभूति व्यंजना का एक माध्यम या साधन ही मानना उचित होगा ।

5. प्रतीकवाद :

"प्रतीक" अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार क्रिया कलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है । यह प्रतीक पद्धति सामान्य जीवन और व्यापक व्यवहार - क्षेत्र में भी प्रयुक्त होती है । जैसे राष्ट्रीय या धार्मिक झण्डा, सिक्का, लिपि, वृक्ष, फल, व्यक्ति आदि प्रतीक अर्थ में प्रतीक होते हैं । यह प्रतीक पद्धति सभी देशों और सभी कालों में प्रचलित रही है और किसी भी देश और काल के लिए नयी नहीं है, परन्तु यूरोपीय प्रतीकवाद 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में वहाँ की कला एवं साहित्य के अंतर्गत एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुआ ।

19वीं शती के अंतिम चरण में यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति के परिणाम स्वरूप उस युग में यथार्थवादी दृष्टिकोण का तीव्रता से विकास हुआ । इसका

प्रभाव कला और साहित्य के क्षेत्र में सबसे अधिक दिखाई देता है । फ्रांस में प्रभाववाद (Impressionism) और साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद (Realism) तथा प्राकृतवाद (Naturalism) का प्रचार हुआ । अतः इन यथार्थवादी प्रवृत्तियों की आदर्शवादी प्रतिक्रिया के रूप में सन् 1870 और सन् 1885 ई० के बीच कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रारंभ हुआ । इसके परिणामस्वरूप कवियों और चित्रकारों ने बाह्य जगत और जीवन का यथातथ्य चित्रण छोड़कर प्रतीकात्मक संदर्भों तथाअलंकरणों द्वारा अपनी कल्पना के स्वप्निल आदर्शों को व्यक्त करना आरंभ किया ।

सन् 1886 ई० में कवि जीन मोरेआस ने "फिगारो" नामक पत्र में प्रतीकवाद का एक घोषणापत्र प्रकाशित कराया जिसमें उसने यह कहा कि "प्रतीकवाद ही एक ऐसा शब्द है जो कला में सर्जनात्मक प्रवृत्ति को भली भांति व्यक्त करता है । विचार या भाव को संवेदनात्मक रूप प्रदान करना ही कला का प्रयोजन है । इस भावना को लेकर अनेक पत्र - पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ । इसके उपरांत अलबर्ट ओरिएट ने 1891 में प्रकाशित एक लेख में प्रतीकवाद को स्पष्ट किया । उसने लिखा कि किसी भी कलाकृति के लिए निम्नांकित पांच बातें आवश्यक हैं -

1. वह भावात्मक हो, क्योंकि उसका प्रयोजन एक भाव को व्यक्त करना है ।
2. वह प्रतीकात्मक हो, क्योंकि वह भाव को रूपाकार के माध्यम से प्रकट करेगी ।
3. वह संश्लेषात्मक हो, क्योंकि वह संश्लेषात्मक हो, क्योंकि वह उन रूपाकारों को सामान्य प्रेक्षणीय उपकरण के रूप में घटित करेगी ।
4. वह विषयीपरक हो, क्योंकि उसमें विषय, विषय के रूप में न आकर कलाकार द्वारा गृहीत भाव संकेत के रूप में होगा ।

5· वह अलंकरणात्मक हो, क्योंकि उपर्युक्त विशेषताएं ही आलंकारिक कला की विशेषताएं हैं जैसा कि प्राचीन यूनानी मिस्त्री आदि लेखक उसे समझते थे ।

इस प्रकार प्रतीकवाद ने एक आन्दोलन का रूप कला और साहित्य के क्षेत्र में ग्रहण किया ।

यह प्रतीकवादी आन्दोलन हीगेल और शापेनहावर के आदर्शवादी दर्शनों से प्रभावित है। इसके प्रचारकों और समर्थकों में मुख्य कवि और कलाकार थे -- एडगर एलन पो, बोदलेयर, वर्लेन, मलार्मे, रिम्बों आदि । इस प्रतीकवाद का प्रभाव जर्मनी, रूस, इंगलैंड और अमरीका पर भी पड़ा । प्रसिद्ध आयरिश कवि डब्ल्यू·बी· ईट्स भी इससे प्रभावित हुआ था ।

जहाँ बिम्ब में वस्तु के निश्चित स्वरूप का संकेत रहता है वहाँ प्रतीक में सदैव अनिश्चित स्थिति की प्रधानता रहती है जैसा कि William York Tindall ने अपने ग्रंथ The Literary Symbol में कहा है - "As defined by HULME, therefore, an Image is not unlike a symbol, both are solid analogies, but whereas our symbol, presenting itself suggests something indefinite, his image suggesting something almost as definite as itself, seems limited if not altogether assigned." (P. 193).

यहाँ यद्यपि यह प्रकट किया गया है कि प्रतीकवाद के मूल में स्पष्टता और रहस्य प्रवृत्ति है और उसके प्रतिक्रिया - स्वरूप बिम्बवाद में ठोस स्पष्टता का आग्रह अधिक है, पर इसमें मतभेद है । "लुईस मैकिनीस" (Louis Macneice) ने Modern Poetry में कहा है - This is

conscious reaction from French symbolists but the imaginists' images in a vaccum seem no more concrete than the symbolists floating suggestions." (P. 9)

अत: अनिश्चयता का अन्तर वास्तविक नहीं । अनिश्चता की स्थिति दोनों में ही है ।

काव्य में प्रतीकों के प्रयोग से मुख्यत: 5 लक्ष्यों की पूर्ति होती है -

1. सूक्ष्म भाव, विचार या कल्पना को स्थूल रूप में प्रस्तुत करना । जैसे "निराशा" को "अंधकार" का प्रतीक बनाना या "ज्ञान" को "प्रकाश" का ।

2. अपरिचित वस्तु का परिचय किसी परिचित आधार पर देना । इससे पाठक सुगमता पूर्वक अपरिचित ज्ञान प्राप्त कर सकता है जैसे, तुलसीदास जी ज्ञान और भक्ति का भेद बताते हुए एक को "दीपक" और दूसरी को "चिन्तामणि" की संज्ञा दी ।

3. अप्रस्तुत का वर्णन करके पाठक के हृदय में प्रस्तुत विषय में जिज्ञासा जागृत करना, जैसे कबीर का यह कथन - ठाढ़ा सिंह चरावै गाई"

4. विषय - वस्तु की व्यंजना अभिधा में न करके ध्वनि या व्यंग्य रूप में करना, जैसे बिहारी के इस दोहे में - नहिं पराग नाहिं मधुर रस, नहिं विकास इहि काल" में कमल की कली अस्फुट यौवन बाला की प्रतीक है ।

5. एक ही शब्द, वाक्य, प्रसंग, कहानी या काव्य के द्वारा दो विषयों का प्रतिपादन एक साथ करना जैसे पद्मावत और कामायनी में रत्नसेन पद्मिनी या मनु - श्रद्धा के प्रतीकार्थों के द्वारा लौकिक और आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति एक साथ की गई है ।

काव्य में विस्तृत एवं स्वस्थ प्रयोग की भूमि को समक्ष रखकर प्रतीक योजना के कई प्रकार किये जा सकते हैं । वे इस प्रकार हैं :-

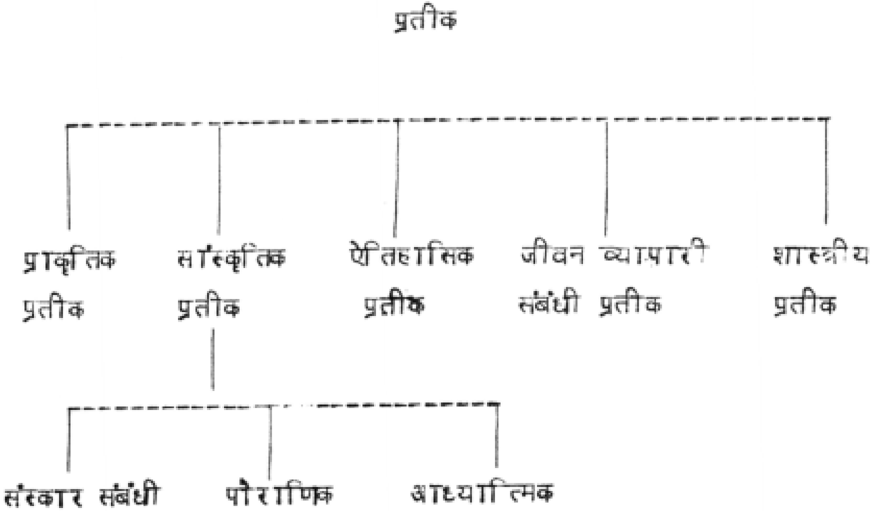

प्रतीक योजना के उपर्युक्त सभी काव्य में प्राय: प्रयुक्त होते हैं ।

1. प्राकृतिक प्रतीकों में निसर्ग या प्रकृति के पदार्थ या प्राणी किसी भावना या विचार का प्रतिनिधित्व करते हुए चित्रित किये जाते हैं ।

2. सांस्कृतिक प्रतीक उस प्रतीक को कहते हैं जिसमें संस्कृति से संबंधित प्रतीकों का प्रयोग किया गया हो । इसके अनेक रूप हो सकते हैं । रामायण, महाभारत आदि पुराणों से संबंधित बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई संस्कृतियों के प्रतीक आदि इनके अन्तर्गत आ सकते है । सांस्कृतिक प्रतीक के तीन आवर्ग है - (1) संस्कार संबंधी (2) पौराणिक (3) आध्यात्मिक

3. ऐतिहासिक - प्रतीक - इतिहास के व्यक्ति और घटनाएं जब किसी विशिष्ट भाव, विचारादि का प्रतिनिधित्व करती हुई वर्णित की जाती

है, तब वहाँ हमें ऐतिहासिक प्रतीक प्राप्त होते हैं ।

4. जीवन व्यापार संबंधी प्रतीक - ये ऐसे प्रतीक हैं जिनमें जीवन से संबंधित क्रिया कलापों और दैनिक घटनाओं को प्रतीक बनाकर प्रयुक्त किया जाता है ।

5. शास्त्रीय या वैज्ञानिक प्रतीक - इन प्रतीकों का क्षेत्र - विस्तार किसी शास्त्र या विज्ञान में होता है । राजनीति, समाज शास्त्र, मनोशास्त्र भौतिक शास्त्र रसायन, जीव विज्ञान आदि से जब हम प्रतीक चुनते हैं, तब वे शास्त्रीय या वैज्ञानिक प्रतीक की कोटि में आते हैं ।

उपर्युक्त प्रकार से मोटे तौर पर प्रतीक के विविध रूपों को समझा जा सकता है । प्रतीक द्वारा सामान्य बात में भी एक विशेष गौरव आ जाता है । सम्यक प्रतीक - चयन किसी भी कवि - प्रतिभा की अपनी विशेषता होती है । ऐसे कवि के मन में प्रतीक योजना सहज रूप से होती रहती है ।

भारतीय काव्य में प्रतीकात्मकता :

भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग चिरकाल से होता रहा है, किन्तु पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भाँति उसमें अस्वाभाविकता एवं अनिवादिता को स्थान नहीं दिया गया । वैदिक साहित्य में जीव और ब्रह्म की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की गई है । संस्कृत और प्राकृत कवियों ने भी प्रतीकों का प्रयोग किया है । अपभ्रंश के जैन एवं बौद्ध कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से ही उपदेश देने की शैली का आविष्कार किया । यही शैली सिद्ध और नाथ कवियों में होती हुई हिंदी के संत कवियों तक पहुंची । महात्मा कबीर ने यौगिक शब्दों एवं नाथ - पंथी साधना पद्धतियों को सहज भक्ति - भावना के विभिन्न अंगों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है । कबीर की उलटबासियाँ तथा सूर के कूटपदों में प्रतीकात्मकता का ही विशेष

ढंग से प्रयोग है । प्रेमाख्यान कवियों ने (जैसे जायसी ने पद्मावत) पूरे के पूरे काव्य प्रतीकों के आधार पर निर्मित किए ।

आधुनिक हिंदी - काव्य और प्रतीकवाद :

प्राचीन हिंदी - काव्य में तो प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से ही हुआ है, किन्तु आधुनिक छायावादी और प्रयोगवादी काव्य में इनका प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि इन्हें "प्रतीकवाद" तक की संज्ञा देने का प्रयत्न किया गया है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावादी काव्य की सर्व प्रमुख विशेषता प्रतीकात्मकता ही मानते हुए लिखा था --"हिंदी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के संबंध में भी ग्रहण हुआ है, वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में । छायावाद का सामान्यत: अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाला छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन ।" प्रतीकवाद की अन्य अनेक प्रवृत्तियां भी छायावादी काव्य में दृष्टिगोचर होती हैं । प्रतीकवादियों की दोनों प्रमुख विशेषताएं - रहस्यवृत्ति एवं अस्पष्टता - छायावादियों में मिलती हैं ।

श्री शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी प्रयोगवादियों को छद्मवेशी प्रतीकवादी बताया है । इसमें कोई संदेह नहीं, कि हिंदी के प्रयोगवादी कवियों ने प्रतीकों के द्वारा अपनी दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है । किन्तु फिर भी उसमें प्रतीकवाद की मूल भावना नहीं मिलती । जैसा कि स्वयं अज्ञेय ने स्वीकार किया है -- "आज के मानव का मन यौन - परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं सब दमित और कुंठित हैं । उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है । उसके उपमान सब

यौन प्रतीकार्थ रखते हैं ।" प्रयोगवादियों की कविताओं में यौन - प्रतीकों की प्रचुरता है ।

पाश्चात्य प्रतीकवादियों की सी रहस्यवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, रोमांच का मोह, और अलौकिक सौंदर्य सृष्टि का आग्रह इसमें नहीं मिलता । प्रतीकवादियों ने बुद्धि का तिरस्कार किया था, जबकि इन्होंने {प्र॰वा॰} इलियट के प्रभाव से बौद्धिकता को ही काव्य का प्रमुख गुण स्वीकार किया है । वस्तुत: प्रतीकात्मकता और प्रतीकवाद में जो अंतर है वहीं प्रयोगवाद और प्रतीकवाद में है । श्री रामानारायण के शब्दों में - "प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय में यदि कोई संबंध है, तो वह यह है कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूंढने की बात कही है । परन्तु फ्रेंच कवियों के प्रतीक संबंधी सिद्धांत रहस्यों, अंतर्विरोध और अस्पष्टताओं से भरे थे, अज्ञेय में यह बात नहीं है ।"

पिछले कुछ वर्षों से हिंदी कविता में प्रतीकात्मकता की प्रवृत्ति और भी तेजी से बढ़ी है । विशेषत: कवियों ने फ्रायडियन प्रतीकों का प्रयोग किया है ।

सामान्य रूप से प्रतीकों का प्रयोग प्राय: सभी देशों के, सभी युगों के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र हुआ है, किन्तु काव्य के अन्य गुणों की अपेक्षा प्रतीकात्मकता को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान करने का श्रेय पाश्चात्य प्रतीकवादियों कोही है । प्रतीकों के महत्त्व की तथा उनके प्रयोग की जैसी सूक्ष्म व्याख्या इस वाद के अनुयायियों द्वारा हुई है, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती

अंत में प्रतीकवाद के गुण - दोषों पर ध्यान दें तो {1} जहां प्रकृतिवादियों ने काव्य में से अलंकारिता का पूर्णत: निष्कासन कर दिया था, वहां

इन्होंने अलंकारिता - प्रतीकात्मकता - को ही काव्य का सर्वोच्च गुण सिद्ध किया । (2) प्रतीकवादियों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाकर काव्य को गंभीर स्वरूप प्रदान किया । (3) उन्होंने साहित्य में सौंदर्य की प्रतिष्ठा की । (4) उन्होंने शैली और अभिव्यंजना संबंधी नवीन प्रयोगों के द्वारा कविता को रूढ़िग्रस्त भाषा से मुक्त किया । (5) उन्होंने काव्य और संगीत में सामंजस्य स्थापितकिया । साहित्य को राजनीति के प्रभाव से बचाया किन्तु प्रतीकवाद में दोष भी कम नहीं है । अंतत: प्रतीकात्मकता एक अलंकार ही है, उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना अनुचित है । प्रतीकात्मकता अभिव्यक्ति का साधन - मात्र है, साध्य नहीं, किन्तु प्रतीकवादियों ने उसे साध्य ही मान लिया । (6) स्पष्ट अभिव्यक्ति केनाम पर इन्होंने ऐसे प्रतीकों का समचीन किया, जो कि कविता और चित्र को अस्पष्ट एवं दुर्बोध बना देते हैं । कला के सहज - स्वाभाविक रूप के स्थान पर उसे कृत्रिम एवं जटिल रूप से आच्छादित कर दिया गया । प्रतीकात्मकता शैली है, उसे भाव पक्ष से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए.। काव्य में प्रतीक ही नहीं, अन्य अलंकारों का प्रयोग भी एक सीमित एवं साधन रूप में होना चाहिए ।

लेकिन आधुनिक हिंदी में प्रतीक सामान्यत: ह्रासोन्मुखी काव्य का स्वरूप नहीं, जैसा कि यूरोप के प्रतीकवाद को कहा गया है । प्रतीक पद्धति पर भी किसी युग के काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है । भारतीय दृष्टिकोण से यह साध्यवसाना लक्षणा का एक विकसित रूप है और इसका अपना शैलीगत महत्त्व है ।

1. काव्य बिंब - डा० नगेन्द्र

अध्याय - 5

तेलुगु में पाश्चात्य काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास

अध्याय - 5

तेलुगु में पाश्चात्य काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास

आधुनिक तेलुगु साहित्य पर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव :{तेलुगु साहित्य में पाश्चात्य आलोचना का विकास}

तेलुगु साहित्य में लेखक जो भी नये - नये प्रयोग करते हैं उस पर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव पाक्षिक (गौण)रूप से हो सकता है । तेलुगु लेखक समकालीन साहित्यिक परिस्थितियों के अनुकूल अपने साहित्य में नवीनतम सिद्धांत की विवेचन कर, उसमें अपना प्रयोग करते समय पाश्चात्य विचार - संस्कार भी अपनी रचना प्रक्रिया में जोड़ सकता है । इसी का उदाहरण है श्री रायप्रोलु जी का श्रृंगार - सिद्धांत,जिसमें उन्होंने कई नये प्रयोग किए हैं जिस पर पूर्णत: पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव नहीं है किन्तु गौण रूप में उसका प्रभाव अवश्य है ।

देखा जाए तो तेलुगु साहित्य में जितना भी विकास हुआ है उसके कारण आधुनिक कवि, आलोचक हैं,जिन्होंने अपने सिद्धांतों को प्रयोग को नया रूप देने के लिए पाश्चात्य आलोचना की ही सहायता ली है ।

पाश्चात्य आलोचना तेलुगु रचनाओं के लिए प्राण समान नहीं है बल्कि प्रवृत्तिगत आया प्रकाश है । इसने आलोचना मेंतेलुगुपन भी अपनाया है । अतः तेलुगु साहित्यिक आलोचना पर पाश्चात्य आलोचना के प्रभाव - स्वभाव का अनुशीलन करना औचित्य है और प्रामाणिक भी । इसलिए तेलुगु साहित्य पर अंग्रेजी के प्रभाव को बतलाते हुए डा० कोत्तपल्लि वीरभद्रराव जी ने अपनी पुस्तक "तेलुगु साहित्यमु पै इंग्लीषु प्रभावमु" में कहा है कि अंग्रेजी सरकार के पालन के समय विदेशियों से संपर्क अधिक होने के साथ - साथ उनकी भाषा साहित्य से तेलुगु साहित्य प्रभावित हुआ है । आंग्ल-भाषा के प्रभाव से तेलुगु साहित्य में सबसे पहले नए - नए शब्दों का प्रयोग हुआ था । क्रमशः आंग्ल साहित्य का प्रभाव आन्ध्र साहित्य पर पड़ने लगा । यह अचानक हुई घटना नहीं है कालक्रमेण पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव तेलुगु साहित्य पर पड़ने लगा ।

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तेलुगु साहित्य "परिणाम दशा" में था । उससे पहले तेलुगु साहित्य में प्रक्रिया - वैविध्य कम होने से पाश्चात्य साहित्य के मुख्यतः आंग्ल - साहित्य के सिद्धांत तेलुगु साहित्य के लेखकों के आकर्षण बने । अलग - अलग लेखक, अलग - अलग प्रक्रियाओं को लेकर प्रयोगात्मक रचनाएं करने लगे । लेकिन लगभग सभी साहित्यिक प्रक्रियाओं को तेलुगु में पूर्णतः आत्मसात करने वाले लेखक तब नहीं होने से, ऐसी प्रतिभा रखने वाले श्री कंदुकूरी वीरेशलिंगम पंतुलु जी (1848-1919) का इस क्षेत्र में पदार्पण होते ही तेलुगु साहित्यिक आलोचना "परिणाम दशा" से "विकास दशा" में पहुंच गई । अतः पंतुलु जी के समकालीन आलोचकों, लेखकों पर भी आंग्ल साहित्य का प्रभाव रहा है ।

इस प्रकार 19वीं शती के उत्तरार्ध से तेलुगु साहित्य पर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव रहा है । पाश्चात्य प्रभाव के कारण तेलुगु साहित्य

के वैशिष्ट्य को किसी भी प्रकार की हानि नहीं हुई बल्कि उसका विकास ही हुआ ।

जिस प्रकार मानव में रक्त की कमी होने से सजातीय गुणों वाला दूसरे आदमी का रक्त उस आदमी को देने से वह जीता है और जीवन व्यतीत करता है उसी प्रकार आन्ध्र आलोचना के लिए भी पाश्चात्य आलोचना के लिए भी प श्चात्य आलोचना जैसा रक्तदान हुआ और उसको नया जीवन मिला । लेकिन यहाँ एक विषय ध्यान देने योग्य है वह है यदि उस रक्त में कोई भी अस्वस्थ बीज होतो वे ग्रहण करने वाले में भी संचार होते हैं । इसी प्रकार पाश्चात्य प्रभाव का गुण स्वभाव भी प्रभावित आलोचना पर भी होता है । इसलिए प्रभाव ग्रहण करते समय अत्यन्त जागरूक होने की आवश्यकता है । प्रभाव और उससे हुए परिवर्तन का तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक है ।

तेलुगु साहित्य में पाश्चात्य प्रभाव के कारण कई नई विधाएं विकसित हुईं । वे हैं कवियों के इतिहास, कवियों के जीवन इतिहास, साहित्य वाङ्मय इतिहास, प्रक्रिया - पर्यालोचन आदि । तेलुगु साहित्य में आलोचना उद्भव व विकास, आधुनिक तेलुगु साहित्य में आलोचना के प्रभाव का भारतीय ढंग आदि पर शोध किया गया है उस पर देखा गया है लेकिन सभी तेलुगु आलोचना पर जो पाश्चात्य प्रभाव है, उसका निर्दिष्ट व सूक्ष्मपरक अध्ययन नहीं किया गया है ।

वाट्सन के अनुसार साहित्यिक आलोचना के तीन प्रकार हैं -
1) Legislative criticism 2) Theoretical criticism and
3) Descriptive criticism

तेलुगु में भी इसी प्रकार विभाजित किया गया है जैसे 1· काव्य लक्षणम 2· काव्य मीमांसा 3· काव्यानुशीलनम । तेलुगु में काव्य लक्षणम से ज्यादा काव्य मीमांसा प्राचीन साहित्य युगों में विशेष रूप

दिखाई पड़ता है । काव्यानुशीलनम मुख्यत: प्रभावात्मक आलोचना को ग्रहण करता है जिसकी नीव वीरेशलिंग जी के युग में पड़ी थी । इस तरह के आलोचना का विकास तेलुगु साहित्य में पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हुआ है जिसे अंग्रेजी में Emergence of applied criticism कहते हैं और हिंदी में व्यावहारिक समीक्षा का उद्‌भव कहते है ।

नन्नया से लेकर वीरेशलिंगम जी के पूर्व तक के समय को तेलुगु साहित्य में आलोचना की दृष्टि से अंधकारयुग माना जाता है । इसका मतलब यह नहीं है कि उस युग में आलोचना थी ही नहीं, थी मगर प्रकाश में नहीं आई, कालगर्भ में मिल गई । उस युग में तेलुगु में केवल संस्कृत ग्रंथ ही शरण्य थी । आन्ध्र लक्षण ग्रंथों का प्रभाव तेलुगु आलोचना पर गगनकुसुम बन गया था । प्राचीन कवियों से कुछ न कुछ सिद्धांत तेलुगु साहित्य को मिलने पर भी उसका विकास करने योग्य तेलुगु आलोचना का उद्‌भव उस समय न मिलने से वीरेशलिंग पंतुलु जी से पूर्व जो युग है उसे अंधकार युग माना गया है । उस युग में तेलुगु आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव बिलकुल भी नहीं था ।

पाश्चात्य प्रभाव ने ही तेलुगु साहित्य में आलोचना को नया विकास मार्ग दिखाया है । अंग्रेजी भाषाके साहित्यिक अध्ययन द्वारा भारतीय बुद्धिजीवी अपने - अपने साहित्य में नये - नये प्रयोग किए हैं । उसी प्रकार तेलुगु लेखक भी अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर तेलुगु आलोचना में नवीनतम प्रयोग किए हैं । यह एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया । इस आन्दोलन के पितामह हैं श्री कंदुकूरी वीरेशलिंगम पंतुलु जी । अत: इनके युग को विकास युग कहा जाता है । क्योंकि इससे पहले तेलुगु साहित्य में संस्कृत लक्षणों को सिद्धांतों को अपनाया जाता था इसलिए आलोचना में कोई प्रगति नहीं हुई थी । पंतुलु जी ने इस तथ्य पर ध्यान देकर पाश्चात्य साहित्य के विधाओं को तेलुगु में लाकर आलोचना के द्वार को खोल दिया । पंतुलु जी ने समाज

संस्करण के आलावा तेलुगु साहित्य के पुनर्विकास मार्ग में पाश्चात्यों से आवश्यक सभी विधवों को अपनाया । लेख, भाषण, आत्मकथाएं जीवन इतिहास आदि विधाएं तेलुगु में वीरेशलिंगम की ही देन हैं । इसलिए पंतुलु जी के समय को तेलुगु आलोचना का प्रकाश युग और प्रयोग युग का नाम दिया जाता है । इनके युग में मुद्रण - यंत्रों की सुविधा होने से साहित्यिक पत्रिकाओं का आविष्कार हुआ और कई ग्रंथ भी प्रकाशित होने लगे । ये सभी इस युग की प्रेरणादायक शक्तियाँ बनी । इसके साथ - साथ सी·पी·ब्राउन जैसे पाश्चात्य पंडितों की भाषा साहित्यिक सेवाओं से इस युग के कवि लेखक शास्त्रीय ज्ञान की प्रतिभा तथा साहस दिखाने में योग्य बन गए । इसका परिणाम यह हुआ कि जूलूरि अप्पय्या, गरिमेल्ला वेंकय्या, पेडिपाटि सोदरूलु, मल्लंपल्लि मल्लिकार्जुन शास्त्रि, आदि ने काव्य व्याख्याओं को उदार रूप दिया ।

अंग्रेजी के Textual Criticism जिसे तेलुगु में "पाठ परिष्कार विमर्श" कहते है इसको तेलुगु में लाने का श्रेय सी·पी·ब्राउन को दिया जाता है । तेलुगु में कई लेखक इन्हीं का अनुसरण करने लगे । इसी का परिणाम है "कवि इतिहास का निर्माण" जिसे पंतुलु जी ने स्थापित किया । श्री जयंति रामय्या भी इसी मार्ग पर चले ।

पाश्चात्य प्रमाणों को प्राचीन आन्ध्र के काव्यानुशीलन में प्रयोग कर कट्टरपंथी जी ने आलोचना को प्रसार किया । उस अभिनव दर्शन से एक सजीव आलोचना का आविर्भाव हुआ । काव्य में आत्मीकरण किये गये कविता के तत्व को केन्द्र के रूप में बनाकर काव्य का निर्माण करना जैसे विवेक कट्टमंची ने तेलुगु आलोचना को बतलाया है । काव्यानुशीलन में इन्होंने प्रमाण के रूप में जो भावनाशक्ति (Imagination) और वस्त्वैक्यम (Unity of Plot) का उपयोग किया है वे विदेशी होने पर भी उनकी आलोचना में ये भारतीय रूप में विकसित हुए हैं ।

कट्टमंचि जी ने काव्यानुशीलन को अंग्रेजी में Impressionistic criticism कहा जाता है । तेलुगु मेंइसी को "अभिरूचि विमर्श" कह सकते हैं ।

कट्टमंचि जी के बाद विश्वनाथ जी की आलोचना में एक मोड़ दिखाई देता है क्योंकि विश्वनाथ जी ने अंग्रेजी के Practical Criticism को अपनाकर तेलुगु में उसे शिल्पानुशीलन युग के रूप में अपनी आलोचना को आरंभ किया ।

तेलुगु साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव की समीक्षा करते समय यहाँ एक विषय याद रखना अवश्य है । युग प्रवर्तक के रूप में विकसित कट्टमंचि जी, विश्वनाथ जी आदि आलोचक प्रत्यक्ष रूप में पाश्चात्य आलोचक से अन्धाधुन्ध प्रभावित नहीं हुए बल्कि उनके सिद्धांतों पर पाश्चात्य आलोचकों का सामूहिक प्रभाव ही दिखलाई देता है । इस पाश्चात्य प्रभाव को यदि परोक्ष रूप से ग्रहण करें तो आलोचना में तेलुगुपन व्यक्त होगा, यह एक सत्य है । अत: इससे अधिकाधिक तेलुगु आलोचकों को कट्टमंचि का मार्ग तथा विश्वनाथ का मार्ग दर्शक हुए हैं ।

तेलुगु साहित्य में केवल मार्क्सिस्ट को छोड़कर बाकी सभी तेलुगु आलोचक काव्यानुशीलन तथाकाव्यशिल्पानुशीलन की प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं ।

इसके बाद तेलुगु में अक्किराजु उमाकान्त, विद्या शेखर ने "विरूपु आलोचना" के नायक के रूप में आते है । इस प्रकार की आलोचना से नवीन प्रक्रियाओं का ज्ञान तेलुगु लोगों को मिलना चाहिए जैसी आवश्यकता को आलोचना जगत ने पहचानकर, आंग्लसाहित्य के आन्दोलनों के स्वरूप - स्वभावों का अध्ययन कर उन्हें आन्ध्र साहित्य की प्रक्रियाओं से जोड़ने का प्रयत्न हुआ । लेखों के रूप में, ग्रंथ आलोचनाओं के रूप में, प्रक्रियालक्षण के

विवेचनाओं के रूप में, समीक्षाओं के रूप में, वाद - अपवादों के रूप में यह आलोचना विकसित हुई और इसका उदाहरण डा० सी नारायण रेड्डी जी का सैद्धांतिक ग्रंथ आधुनिक आन्ध्र कवित्वमु - संप्रदायमु - प्रयोगमुलु" है जिसने नागार्जुन सागर का रूप धारण कर लिया ।

समीक्षा युग में साहित्यिक आलोचना ने अनेक साहस किए हैं । मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से, मानवतावाद के दृष्टिकोण से, अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण से, मनोविश्लेषणवाद के दृष्टिकोण से, अस्तित्ववाद के दृष्टि-कोण से, प्रतीकवाद के दृष्टिकोण से समाजवाद के दृष्टिकोण से, समन्वयवाद के दृष्टिकोण से अनेक साहित्यिक समीक्षाएं आई हैं जो पाश्चात्य प्रभाव से विकसित हुई हैं ।

इस प्रकार की साहित्यिक आलोचना प्रक्रियाओं के बारे में "आधु-निक तेलुगु साहित्य विमर्श - सांप्रदायिक रीति" जैसे सैद्धांतिक ग्रंथ के लेखक डा० कोवेल संपत्कुमाराचार्य जी ने कहा है - "मनोवैज्ञानिक वाद, फ्रायडवाद, मार्क्सवाद, नव्यमानवता वाद (Radical Humanism) प्राग्रूपवाद आदिबिंब (Archetype), अस्तित्ववाद, अरविन्द दर्शन गान्धीवाद आदि आधुनिक विकसित रूप हैं । सही माने में ये शास्त्र वाद - दर्शन मौलिक रूप से साहित्यिक संबंध से आविर्भाव या विकसित भी नहीं हुए हैं । उनके विकास के लिए साहित्य प्रधान नहीं है, कहना भी प्रसिद्ध ही है ।" (पृ.30)

मार्क्सवाद के बारे में कहते हुए आचार्य जी नेकहा है कि तेलुगु साहित्य में मार्क्सवाद को मौलिक रूप में सूत्रपात करने का श्रेय "श्री श्री" को ही दिया जाना चाहिए । लेकिन इसका विकास श्री कोडवटिगंटि कुटुंबराव जी, पामुलपर्ति सदाशिव राव जी, के.वी.रमणा रेड्डी जी, केतवरपु राम कोटि शास्त्री जी, त्रिपुरनेनी मधुसूदन राव जी, चेकूरि रामा राव जी आदि

श्री मु॰वीरभद्रय्या जी का लेख "नव्य अलंकार शास्त्रम - मार्किस्तु प्रक्पथमु (नया अलंकार शास्त्र - मार्क्सवाद का दृष्टिकोण) इस प्रभाव में विशेष है ।

1. काल्पनिकवाद :

कल्पना साहित्य, काल्पनिक कविता तेलुगु साहित्य में सन् 1910 से सन् 1940 तक भावकवितोद्यमु (भाववाद) के नाम से अतर्गत रूप में चली । सन् 1909 में "ललिता" काव्य रचना से इस नये वाद का आरंभ श्री रायप्रोलु सुब्बाराव जी, अब्बूरि रामकृष्णा राव, देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्रि, विश्वनाथ सत्यनारायण तल्लावझुल शिवशंकर शास्त्रि, नायनि सुब्बा राव, बसवराजु अप्पाराव, मल्लवरपु विश्लेश्वराव आदि कवियों ने बड़े ही भावावेश तथा रसावेश से किया और इनकी रचनाओं के कारण ये भाव कवि के रूप में माने गये । इसी काल्पनिक साहित्य में भाग के रूप में तेलुगु में उपन्यास, कथाएं आदि प्रक्रियाओं का भी जन्म हुआ । श्री आर॰एस॰सुदर्शनम जैसे आलोचकों ने गुडिपाटि वेंकटचलम की रचनाओं को काल्पिनिक रचनाओं के रूप में और उन्हें कल्पनावाद के प्रमुखों में एक प्रमुख के रूप में मानते हैं । सामाजिक तथा स्वतंत्र परक संदेश, नये समाज का रूप, सृजनात्मकता आदि भाव इस काल्पिनिक साहित्य में है ।

श्री आर॰एस॰सुदर्शनम जी ने काल्पनिक वाद अर्थात भाववाद की रचनाओं को दो भागों में विभाजित किया है -

1. Revivalism of Past.

पुराने विचारों का पुनरुत्थान । इस प्रकार की रचनाओं में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी की रचनाओं को ले सकते हैं जिसमें उन्होंने जमींदारी, ब्राह्मण तथा राजा जैसे प्रभावों के पुनरुत्थान के बारे में लिखा है ।

इन्होंने कहा है कि एक Vedam के बजाय कोई भी सही नहीं है । इसी में श्री रायप्रोलु जी भी आते है ।

2. पुरोगमन रचनाएं अर्थात् राष्ट्रभावना सहित रचनाएं । इसके अंतर्गत उन्नव लक्ष्मीनारायण, अडवि बापिराजु, तम्मल सीताराम मूर्ति, वेदुल सत्यनारायण शास्त्रि आदि की रचनाएं आती हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से जनता में राष्ट्रीय भावना जगाकर राष्ट्र की जनता के सुधार के लिए कई विचार प्रस्तुत किया है ।

यदि उद्देश्य को छोड़कर thought complex को दृष्टि में रखें तो तेलुगु के काल्पनिक वाद की रचनाओं को कई भागों में विभाजित कर सकते हैं जैसे देशभक्ति कविता, संघ संस्करण कविता, स्मृति काव्य आदि प्रधान हैं ।इसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि तेलुगु के काल्पनिक वाद के और साहित्य के बीच एक विशेषता है । यह विशेषता तेलुगु जाति के जीवन के ढंग से या तेलुगु की जनता का सामाजिक संदर्भ या अंग्रेजों के विरुद्ध जो स्वतंत्रता संग्राम हुआ उसके कारण या राजनैतिक - ऐतिहासिक प्रभाव तेलुगु की जनता पर होने से भी हो सकता है ।इस प्रकार तेलुगु के काल्पनिक वाद पर सामाजिक शक्तियों का प्रभाव अधिक हैं ।

इसके साथ - साथ वैयक्तिक रचनाओं से कवि जीवन में कई समस्याओं का सामना करने से,इस प्रकार ही मित्रों के साथ रहने से, पुस्तकों के स्नेह से, स्वयं के जीवन के अनुभव से - आवेश में आकर भाव कविता लिखना आरंभ कर दिया - इस प्रकार भी माना जाता है । श्री रायप्रोलु सुब्बाराव जी ने गोल्डस्मित कृत "हेर्मिट" गीत का अनुवाद किया जिसमें भाव कविता के लक्षण है । इसी प्रकार के·वी·रमणा रेड्डी जी की "कवि कोकिला" में भी प्रकट होता है । सन् 1910 में श्री रायप्रोलु सुब्बाराव जी

ने "अनुमति" नामक काव्य की रचना की जो मूल में टेन्नसन का "डोरा" काव्य है । 1912 में उन्होंने "तृणकंकण" काव्य की रचना की जिसमें उनका मौलिक भावुकता, मौलिक विचार, सृजनात्मकता है जिससे उनको नव्य साहित्य स्रष्टा के रूप में स्थान मिला । इसी प्रकार इन्हीं से तेलुगु साहित्य में स्मृति गीतों (Elegies) की शुरूआत हुई और वे इसके प्रवक्ता माने जाते हैं । "गोखले निर्याणमु" इनका अत्युत्तम स्मृति गीत है । "राधाकृष्णुडु", रवींद्रुडु, रामलिंगा रेड्डी, गिडुगु सीतापति आदि इनके स्मृति गीत है । रायप्रोलु जी ने "कष्टकमल", "स्वप्न कुमारामु" , "स्नेहलता" आदि लघु काव्य भी लिखे ।

भाववाद एक नया वाद है, इसलिए सनातन लोग और भारतीय सिद्धांतों के अनुयायी इसका विरोध कर सकते हैं । इसलिए रायप्रोलु जी ने कहा कि "यह वाद प्राचीन लक्षण शास्त्रों से अलग नहीं है और भाव कविता पुराने और नयों का मेल है । यह इतिहास तथा भविष्य को मिलाने वाला रस वारधि है ।" इसके लिए इन्होंने "रम्यालोकमु" तथा "माधुरीदर्शनमु" आदि सैद्धांतिक ग्रंथों की रचना की । कई कवियों ने इनसे प्रभावित हो "भाव कविता" की रचनाएं की ।

आत्माश्रय रीति के जैसा कविता को लिखकर अपने भाव प्रकट करना इस कल्पनावाद के गुणों में से एक है । इसमें कवि अपनी अनुभूतियों को सहजरूप में चित्रित करता है । कृष्णशास्त्रि जी ने अपनी रचना "कृष्णपक्षमु" में ऐसे ही भावों को व्यक्त किया है । कृष्णशास्त्रि जी की इस आत्माश्रय कविता पर शेल्ली का प्रभाव है और शेली की रचना "Loves Philosophy" की कुछ पंक्तियां "कृष्णपक्षमु" की पंक्तियों से मिलती है । ऐसे कुछ आलोचकों के विचार हैं । प्रकृति के सौंदर्य को चित्रित करना, उसका आनंद लेना, प्रकृति का अनंत शक्ति के रूप में आराधना करना ये सब भाव कविता के विशिष्ट लक्षण है । कृष्णशास्त्रि जी की कविताओं में यह सौंदर्य अर्थात काल्पनिक सौंदर्य अत्यधिक मात्रा में चित्रित हुआ है । उदाहरण के लिए -

गल गला वीचु चिरुगालिलो केरटमै
जला जला पारु सेलयेटि पाटलो तेटनै"

उपर्युक्त पंक्तियों में उन्होंने प्रकृति के प्रति अपनी आराधना तथा प्रकृति के प्रति अपना धन्यवाद प्रकट करता है ।

इस दुनिया के रीति रिवाजों से कवि भागने के लिए सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार के पलायन से ही कवि को संपूर्ण आजादी मिलेगी यह कवि का विश्वास है । इसी को अनल्डि हजार ने पलायनवाद" कहा है । अर्थात भाव कवियों का आजादी का भाव ही पलायनवाद है ।

भाव कविता में उदासीनता, आवेश, रोदन आदि आदमी में आत्मग्लानि को जन्म देते हैं । इस प्रकार का चित्रण कृष्णशास्त्रि जी की कविता में मिलता है ।

सन् 1910 से आरंभ होकर लगभग 4 दशक तक तेलुगु साहित्य पर कल्पनावाद (भाव वाद) का प्रभाव समकालीन साहित्य और समाज पर रहा । इससे पहले तेलुगु साहित्य भारतीय काव्यशास्त्र पर आधारि था । भाववाद के उदय होने से तेलुगु की वस्तु शैली में, पद, भाव, कल्पना आदि शैलियों में मौलिक परिवर्तन हुए । मध्य वर्गीय जीवन अब कविता का काव्य-वस्तु बन गया ।

2· हेतुवाद :

हेतुवाद का अर्थ है कारण, सर्वाधिकार को बिना कोई बन्धन के स्वीकार करने वाला एक मानसिक दृष्टिकोण । बिना कोई कारण के भावों प्रमाणों को कोई जगह नहीं देकर, प्रयोगात्मक रूप से निरूपण करने वाले दर्शन नीति शास्त्र का निर्माण करना ही हेतुवाद का लक्ष्य है ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य पाश्चात्य हेतुवाद के प्रमुख देकार्त §1596 - 1650§ स्पिनोजा §1632 - 1677§ लिब्नीज § 1646 - 1716§ का प्रभाव रहा है । उसके बाद 1859 में डार्विन द्वारा लिखित "On the Origin of Species by means of Natural Selection नामक ग्रंथ पर इस वाद के अनुयायियों की आलोचना से यह और दृढ़ हो गया ।

भारत देश के आधुनिक दार्शनिकों में श्री मानवेंद्रनाथ राय जी हेतुवाद को अधिक प्रधानता दी ।

तेलुगु साहित्य में हेतुवाद की छायाएँ "वेमना" के पद्यों से ही प्रकट होते हैं । वेमना जी ने परातत्व भाव को स्वीकृत करते हुए जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर होने वाले दुराचारों, अंधविश्वासों का तिरस्कार किया है । उन्होंने कहा कि "राति बोम्मकेल रंगैना वलुवलु, गुल्लु गोपुरमुलु कुंभमुलुनु कट्टगुड्ड तानु कोरना देवुडु " मतलब यह है कि पत्थर की मूर्ति के लिए क्यों रंगीन कपड़े चढ़ाए जाते है ? क्या भगवान रोटी और कपड़े खुद के लिए चाहता है ? इस प्रकार अंधविश्वासों की आलोचना करते हुए कबीर प्रतिभा का महत्व देते है ।

अंग्रेजी भाषा से संपर्क, विज्ञान, पाश्चात्य साहित्य से हुए परिचय से आधुनिक तेलुगु साहित्य में महान परिवर्तन हुए । अब जनता अलौकिकता को त्याग कर लौकिक दृष्टि से साहित्य को सोचने लगी। आदमी के भौतिक जीवन की प्रधानता को समझना और उसको आसान बनाने के लिए प्रयत्न करना आधुनिक तेलुगु साहित्य का ध्येय हो गया ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में प्रथमत: हेतुवाद के लक्षण 19वीं शती के पूर्वार्द्ध में स्वामिनेनि मुद्दुनरसिंह नायनि जी के "हित सूचनि" नामक ग्रंथ में

दृष्टिगोचर होते हैं । उसी समय उन्होंने लिखा कि मंत्र तंत्र में कोई सत्य नहीं है, भूत - पिशाच जैसी चीजें नहीं है, समाज के वर्ग - विभाजन में कोई न्याय नहीं है, बाल विवाह ठीक नहीं है, नारी - आजादी की आवश्यकता है आदि ।

इनके बाद श्री वीरेशलिंगम पंतुलु जी से तेलुगु साहित्य में मौलिक परिवर्तन हुए और एक नई चेतना आई । सामाजिक विषमताओं को दूर करके आजादी की लड़ाई को सफल बनाने के लिए और जनता में जागृति लाने के लिए उन्होंने साहित्य को एक माध्यम बनाया । इसलिए उनके साहित्य में भी और हेतुवाद की छायाएं प्रकट होती है । अलौकिकता की सीमा में हो तो भी उनसे प्रचार किया हुआ एकेश्वरोपसना, ब्रह्म समाज के सिद्धांतों पर हेतुवाद का प्रभाव रहा ।

अंधविश्वासों का तिरस्कार धर्म - जाति भेद आदि श्री गुरजाड अप्पाराव जी के रचनाओं की प्रधान कथावस्तु रही । उनके "मुत्याल सरालु" इसके उदाहरण है । सन् 1909 से ही उनके साहित्य पर हेतुवाद का प्रभाव रहा । उन्होंने कहा कि "देशमंटे मट्टि कादोय, देशमंटे मनुषुलोय" अर्थात देश का अर्थ मिट्टी नहीं है बल्कि मानवता है । ऐसे ही -

"मनिषि चेसिना रायि रप्पकु
महिमा कलदनि सागि मोक्कुतु,
मनुषुलंटे रायि रप्पल कन्न कनिस्टंगा"

जो भगवान की मूर्ति पत्थर से मनुष्य ही बनता है, उसी में कुछ महिमा , अद्भुत शक्ति होगी मानकर उसकी आराधना करते है । मनुष्य से ज्यादा बेहतर पत्थर ही है ।

यह मानवता के प्रति तीखा व्यंग्य है । वे मानते हैं कि विज्ञान मानव जीवन के सुधार के लिए अच्छा मार्ग है ।

तेलुगु साहित्य में हेतुवाद का मूल पुरुष श्री त्रिपुरनेनि रामस्वामी जी को मानते हैं । नये समाज के निर्माण के लिए उन्होंने नये दर्शन के साथ हेतुवाद के प्रसार के लिए नये साहित्य का निर्माण किया । जनता के मन में अंध विश्वासों को जन्मदेने वाले धर्म - जाति से मुक्त समाज की स्थापना को उन्होंने प्रधानता दी । हर चीज को हेतुवाद की दृष्टिकोण से देखने के तत्व को उन्होंने अपनाया । यही उनकी रचनाओं की प्रधान वस्तु है । इनकी रचनाओं में प्रमुख है "शंबुक वधा" यह स्मृतियों पर हेतुवाद की दृष्टिकोण से की गयी पुनरालोचना है । इसमें शंबुक महर्षि और श्रीराम के बीच हुए अन्याय को नाटक के रूप में लिया गया है । सूतपुराणम" इनकी दूसरी रचना है जिसमें पुराने पुराणों की व्याख्या हेतुवाद की दृष्टिकोण से की गई है ।

मानव जीवन में ज्ञान, नीति, आजादी लाकर समाज के जाति भेद को नाश करने के लिए ही हेतुवाद का विकास हुआ इसके फलस्वरूप ही भगवतगीता, धूर्त मानव, कुप्पुसामि शतकों की रचना हुई ।

धर्म का विद्रोह कर मानव जाति के लिए मानव ही अधिकारी है - इसका निरूपण करने वाला नाटक है - "खूनी" इसमें रामस्वामि जी ने धर्म के बारे में भूमिका में कहा है कि धर्म हर देश में शांति को भंग कर मानव जीवन को अस्तव्यस्त कर देता है । इसी धर्म के कारण अनेक महापुरुषों का अंत होगया है । "खूनी" नाटक के नाटक कार कविराजु त्रिपुरनेनि राम स्वामि जी है जिनकी रचना से उनकी स्वतंत्रता की कामना झलकती है ।

त्रिपुरेनि रामस्वामि जी का लड़का गोपीचंद भी सुप्रसिद्ध रचनाकार है, जिनमें पिता जी के भाव प्रकट होते हैं । उनकी रचनाएं "असमर्थुनि जीवितयात्र" को अपने पिता जी को समर्पित किया है । जिसमें उन्होंने भगवान की अन्वेषणा लिखा है । "उभयकुशलोपरि" के अंतर्गत उनके कई लेख

छपे है जो हेतुवाद के मार्ग पर चलते हैं । उनके उपन्यास "परिवर्तना", "यमपाशम" हेतुवाद के लिए अच्छे उदाहरण हैं ।

हेतुवाद साहित्य में हाल हीमें प्रकाशित नार्ल वेंकटेश्वर राव जी का "जाबिलि" नाटक "नार्लवारि मारा" प्रमुख हैं । नार्ल जी ने वाल्मीकि कृत रामायण का विस्तृत शोध किया है । जिसमें उन्होंने राम को साधारण मानव के रूप में अपने विचार भूमिका में प्रकट किए हैं ।

हेतुवाद साहित्य की उल्लेखनीय रचनाएं हैं चलम जी की "सावित्री", मुद्दुकृष्ण शास्त्रि जी की "महाभारत विमर्श" आदि । शास्त्रि जी ने महा-भारत कथा को ऐतिहासिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से परखा है और आलोचना की है ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में वीरेशलिंगम् जी से आरंभित आधुनिक युग का नीव हेतुवाद ही है । प्रकृति को समझने के लिए, प्रकृति और मानव के बीच के संबंध को समझने के लिए शुरू हुआ । हेतुवाद लौकिक जीवन को सरल बनाने के लिए विकसित हुआ । इसलिए तेलुगु के आधुनिक साहित्य को हेतुवाद के बीजारोपण से विकसित साहित्य कह सकते हैं । यही हेतुवाद साहित्य तेलुगु साहित्य में अभ्युदय और क्रांतिकारी साहित्य के लिए बीज बोये हैं ।

3. अभ्युदयवाद :

भाव कविता का काल्पनिक साहित्य पर एक क्रान्तिकारी प्रभाव रहा, उसके फलस्वरूप अभ्युदय साहित्य का उदय हुआ । काल्पनिक कविता के देशभक्ति गुण और मानवतावाद का परिणाम है अभ्युदयवाद ।

अभ्युदयवाद का आरंभ पहले कविता से हुआ क्रमशः गद्य की विधाएं जैसे कहानी, उपन्यास, नाटक आदि तक पहुंच गया । यह वाद बहुत ही

क्रांतिकारी है क्योंकि भाव, भाषा, छंद, कथावस्तु, शिल्प, तत्व आदि सभी में नये कदम उठाया है ।

यदि अभ्युदय शब्द का अर्थ लिया जाए तो वह है उदय होना, संभव होना आदि । कुछ लोगों का मानना है कि यह शब्द प्रबंध युग से ही था लेकिन यह अभ्युदय जन्मत: नये मूल्यों को लिया हुआ है । पुराने मूल्यों को लिया हुआ है । पुराने मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों का जन्म हुआ । भारतीय अलंकार संप्रदायों के सिद्धांतों से इसको नापने के लिए गुंजाइश ही नहीं रही । नवीन रचना सूत्र ही इस अभ्युदय साहित्य के आलंबन है । ये सूत्र तेलुगु साहित्य में क्रान्ति लेकर आए । भाव कविता के आत्मानुभूति के स्थान पर भौतिकता को प्रधानता मिली । "जनता ही ऐतिहासिक निर्माता है" यह सिद्धांत इस वाद का बुनियाद है । इस वाद के पूर्व जो साहित्य था वह आनंद - साहित्य था तो इसका साहित्य चेतना भरित है । वास्तविकता, सुंदरता तथा तात्त्विकता इसका नीव है ।

इसका श्रेय सबसे पहले "श्री श्री" को दिया जाता है । तेलुगु साहित्य में "प्रगति", "पुरोगमन" जैसे अभ्युदय शब्दों का प्रयोग श्री श्री ने ही प्रथमत: किया है । सन् 1973 में उन्होंने "अभ्युदयमु" नामक संकलन की कविता में "अभ्युदयमु" शब्द का प्रयोग किया है -

नेडे
ईनाडु
ईनाडे
जगमंता बलिवितर्दि
नरजातिकि परिवर्तन
नवजीवन शुभ सम्ममम
"अभ्युदयम"

लेकिन इन पंक्तियों में इन्होंने इस शब्द का अर्थ सांप्रदायिक ढंग से नहीं किया बल्कि सामाजिक व भौतिक रूप में एक क्रान्तिकारी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है ।

पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव इस अभ्युदयवाद पर काफी रहा है । पाश्चात्य साहित्य के मार्क्सवाद के प्रधान लक्षण जैसे भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग विभाजन आदि अभ्युदय साहित्य को प्रभावित किये हैं । बूर्जुवा वर्ग तथा मजदूरों के बीच के संबंध, मजदूर वर्ग का संघर्ष आदि के फलस्वरूप सम्यवाद का निर्माण - यह अभ्युदयवाद में प्रतिबिंबित हुआ है । यह फ्यूडल और बूर्जुवा वर्ग के खिलाफ है । साम्राज्यवाद के स्वरूप फासिजम, नाजिम का खड़ा शत्रु है यह अभ्युदयवाद । अभ्युदयवाद का आशय है कि जैसे भौतिक संपादाओं को समाज के अधीन कर मजदूरों की उन्नति के लिए उपयोग करते हैं वैसे ही साहित्य तथा कलाओं को सभी के उपयोग के लिए लाना है । इसके द्वारा अधिक लोगों के लिए उपयोगकारी साहित्य को बढ़ाना है । यही भाव अभ्युदय शब्द में मिला हुआ है ।

इस वाद का जन्म सन् 1930 में हुआ है जिस समय बूर्जुवा वर्ग पूरी दुनिया को आर्थिक संकट में डाला हुआ था तथा जिसका कारण 1914 व 1939 के विश्व युद्ध भी थे । प्रथम विश्व युद्ध के बाद साहित्य में कई विधाएं आई जैसे कल्पनावाद, प्रतीकवाद, दादावाद, निराशावाद पर यूरोप के स्टीफेन स्पेन्डर, डेटाइस, काडवेल, राल्फ फाक्स आदि ब्रिटिश कवियों, लेखकों ने विद्रोह किया और इस विरोध को प्रकट करते हुए सन 1932 में "न्यू सिग्नेचर्स नाम से एक काव्य संकलन भी प्रकाशित हुआ और लंदन के लेखकों ने इसके विरुद्ध अपनी घोषणा भी दी । इस "घोषणा पत्र" के अंशों को ही श्री श्री ने "प्रतिज्ञा" नामक अपने खंड काव्य में कलात्मक ढंग से प्रकट किया है । इस प्रकार यूरोप के अभ्युदय साहित्य का प्रभाव तेलुगु साहित्य पर रहा । इसके फलस्वरूप भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी का उदय(1925)

हुआ । किसान संघ, मजदूर संघ आदि का जन्म हुआ । सामूहिक रूप से समान अधिकारों के लिए संघर्ष होने लगा । तेलुगु साहित्य में अल्लूरि सीता राम राजु ने जो क्रान्ति ब चलाई यह लगभग इसी समय हुई थी । उर्दू, हिंदी, बंगला साहित्यों में नजुल इस्लाम, प्रेमचन्द, मुल्कराज आनन्द आदि ने क्रान्तिकारी रचनाएं की । इसी के परिणामस्वरूप सन् 1935 में तेलुगु में अखिल भारतीय अभ्युदय लेखक संघ का निर्माण हुआ । श्री अब्बूरि रामकृष्णा राव जी इसके सदस्य थे । इन्होंने ही लंदन लेखकों के घोषणा पत्र (मैनिफेस्टो) को श्री श्री से पढ़वाया जिससे लेखकों की आजादी व अधिकारों में भावनात्मक परिवर्तन हुआ। वैसे ही हिंदी साहित्य में प्रेमचन्द जी के नेतृत्व में सन् 1936 में एक बैठक हुई जिसका प्रोत्साहन नेहू, टैगूर, सरोजिनी देवी से मिला । इनसे ही प्रभावित होकर श्री श्री, नारायण बाबू इत्यादि ने वस्तु (Content) प्रधान, प्रयोगात्मक ढंग से अभ्युदय कविता की रचना करना आरंभ किया । पट्टाभि, शिष्ट्ला इत्यादि कविता में रूपात्मक (Form) क्रान्ति के लिए नीव रखा । इनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सन् 1943 में तेनालि में महा सम्मेलन हुआ । इसके बाद सन् 1943 से 1947 तक चार बड़े - बड़े सम्मेलन तेनालि विजयवाडा, तेनालि, मद्रास में आयोजित किये गये जिनसे प्रगतिवादी लेखकों को अधिक प्रोत्साहन मिला और साहित्य की सभी विधावों को प्रभावित किया ।

सन् 1943 से पहले 1933 से ही श्री श्री ने "महाप्रस्थान" गीत लिखना आरंभ कर दिया था । नारायण बाबू, पुरिपंडा, मुद्दुकृष्णा आदि ने भाव कविता से भिन्न कविताएं लिखी । साहित्यिक "वस्तु" में भावपरक क्रान्ति लाई । शिष्ट्ला, पाट्टाभि आदि ने भाव कविता के विरुद्ध कड़ा विद्रोह किया । उससे पहले, ही सन् 1923 में उन्नवा जी का उपन्यास "मालपल्लि" (जो दलित वर्गों के बारे में है) प्रकाशित हुआ जो गांधीवाद व रूस क्रान्ति से प्रभावित था । लगभग सन् 1936 के आस पास "रेतु भजनावलि"

§किसानों के बारे में§ प्रकाशित हुआ जिसमें कम्यूनिस्ट §साम्यवादी§ सोषलिस्ट §समाजवादी§ तथा कांग्रेसवादियों ने जमींदारी प्रथा तथा साम्राज्यवाद को नाश करने के लिए पद्य तथा गीत लिखे। "गरिमेल्ला" जी ने "माकोद्दी तेल्लदोरतनम" §हमें नहीं चाहिए इन सफेदों की दादागिरी§ नाम से अंग्रेज सरकार के विरुद्ध कई रचनाएं की। इसी के कारण छंदमुक्त तथा वचन कविताओं का उदय हुआ जो भारतीय काव्य सिद्धांतों के नियमों से हटकर था। कविताओं के साथ-साथ मंच पर नाटक, लोक नाटक §बुर्रकथा§ नौटंकी आदि प्रदर्शन कर बूर्जुआ वर्ग के विरुद्ध जनता में जागृति जगाया। जिनका मुख्य कथा नायक एक आम किसान हुआ करता था। सैद्धांतिक ढंग से रचना करने वाले महान लेखक भी इस वाद के प्रवाह में आ गये जिसमें देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्रि जी, विश्वनाथ जी भी थे। निजाम के प्रति विद्रोह, तेलंगाना विद्रोह भी इसी के देन है जो पूरे आन्ध्र प्रदेश को हिला दिया था। गुलामी प्रथा का अंत हुआ और स्वतः पूर्ण नये नये ग्रामों का उदय हुआ। जैसे कीचड़ में भी हीरा चमकता है उसी प्रकार कितने ही क्रान्तिकारी कवियों, गायकों, लेखकों का जन्म हुआ और वे प्रकाश में आये।

इस वाद के फलस्वरूप पूरी तेलुगु जगत् के लिए दाशरथिजी की अग्निधारा, रुद्रवीणा, अनिसेट्टि जी की अग्निवीणा, सोमसुन्दरम जी की वज्रायुधम, रेंटाला जी की संघर्षणा, गंगिनेनि जी की उदयिनि, कुंदुर्ति जी की तेलंगाणा आदि कविताएं नया उत्साह भर दिये। उपन्यासों के अंतर्गत बोल्लिमुंता शिवरामकृष्णा जी का "मृत्युंजयुलु" महीधरा राम मोहन राव जी का "ओनमालु" किशनचंदर जी का "जब खेत जाग उठे" आदि नारायण जी के उपन्यास प्रकाशित हुए। कहानियां तो सैकड़ों प्रकाशित हुई। नाटकों के रंगमंचन से अद्भुत परिवर्तन हुए जिसमें सुंकरा, वासिरेड्डी जी के मुंदडुगु व मातृभूमि नाटक। तेलंगाणा विद्रोह के समय कई अज्ञात कवियों की रचनाएं प्रकाश में आई। पूरे तेलुगु साहित्यिक गगन में एक नई रोशनी का प्रसार होने लगा। यह अभ्युदय वाद के साहित्य के लिए स्वर्ण युग है।

यह साहित्य पुराण, प्रबंध तथा भावकविता जैसे युगों से भिन्न साहित्य है । जिसका उद्देश्य एक ही जो कि साहित्य को, उसकी सभी विधाओं को मजदूरों व किसानों तक और उनके निकट पहुँचाना और जिसके आस्वाद से इनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आना व इनका सुधार होना । साम्यवाद समाज की स्थापना ही इसका लक्ष्य है । यह मार्क्स तथा एंगिल्स के भौतिकवाद की नींव है ।

भाव कविता को आनंद कविता और अभ्युदयकविता को चेतना - कविता बतलाने वाले श्री वेल्चेरू नारायण राव जी इसका विश्लेषण करते हुए बतलाते है कि भारतीय काव्य विधाओं का विरोध करने वाला यह वाद क्रान्तिकारी है । यह अभ्युदय कविता ही तब तक की क्रान्तिकारी कविता के लिए नीव डाली है । (तेलुगु लो कविता विप्लवाल स्वरूपमु - पृ. 178) अत: यह कविता सभी साहित्यिक वादों के लिए काम में आने वाली आचरणात्मक व सैद्धांतिक नीव डाली है ।

यह अभ्युदय कविता स्वतंत्रता क्रान्ति में एक भाग के रूप में प्रारंभ हुआ ।इसका तत्काल आशय था कि स्वतंत्रता प्राप्ति और उसका अंतिम आशय था कि साहित्य में साम्यवाद की स्थापना । इसलिए फ्यूडल, साम्राज्यवाद के विरूद्ध और साहित्यिक विधाओं में भाषा से संबंधित व भाव से संबंधित क्रान्ति चलायी । इसका ही प्रतिबिंब (Reflection) साहित्य में दृष्टिगोचर होने लगा ।

सन् 1947, 1948 की सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं के कारण इसमें कई भिन्नताएँ, मनमुटाव आ गये । इस अभ्युदय साहित्यिक वाद में कई समस्याएँ उत्पन्न हुई । सन् 1959 तक "अभ्युदय" मासिक पत्रिका का का प्रकाशन होने लगा फिर भी उसमें इस वाद के प्रति कोई एक लक्ष्य निर्धारण नहीं हुआ । इससे इस वाद क्षीण होता गया ।

4· अस्तित्ववाद :

आधुनिक तेलुगु साहित्य में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के अंतर्गत अस्तित्ववाद को लिया जा सकता है जिसके प्रवर्तक पारिस के सार्त (नोट) माने जाते हैं । इन्होंने फ्रेन्च साहित्य को और तात्त्विक विभाग को सजनात्मक संपत्ति को दान दिया है । सन् 1930-50 के बीच फ्रेन्च के मेधावियों ने मानव मूल्यों के संबंध में विचार किया और ऐसी ही रचनाएं शुरू की । ये रचनाएं अंग्रेजी में अनूदित हुई और आधुनिक तेलुगु लेखकों को आकर्षित की ।

सन् 1950 - 75 के बीच अस्तित्तवाद तात्त्विक दृष्टिकोण का प्रभाव तेलुगु लेखकों पर रहा और इस वाद से प्रभावित होकर कुछ रचनाएं तेलुगु साहित्य में हुई । इससे प्रभावित होकर कुछ तेलुगु लेखकों ने साहित्य की सभी विधावों में मौलिक रचनाएं की । यह प्रभाव कविता, कहानी नाटकों पर कम रहा बल्कि उपन्यासों पर अधिक रहा । फलस्वरूप अस्तित्ववाद के दर्शन ने आधुनिक तेलुगु जीवन को आलोचना के क्षेत्र में कुछ हद तक, आचरण के क्षेत्र में बहुत कम हद तक अपना स्थान लिया । देश में विकसित औद्योगिकरण, शहर जीवन की क्लिष्ट समस्याएं इस तत्व की ओर कुछ मध्यम वर्ग के मेधावियों की दृष्टि आकर्षित की ।

अस्तित्ववाद वैयक्तिक चेतना को जगाता है । मानव को क्या चाहिए ? इसको निर्णय करने की पूरी आजादी मानव को है । लेकिन क्या चाहिए ? इसका कारणपूर्वक आधार नहीं है । इसलिए मानव निरंतर मानसिक कुंठाओं से जीवन व्यतीत करता है । अंग्रेजी में अस्तित्ववाद के लिए Existentialism शब्द कुछ हद तक ठीक साबित होता है । अस्तित्ववाद के अनुसार मानव अपनी मृत्यु के संबंध में स्वतंत्र नहीं है लेकिन मरने वाला एक स्वतंत्र मानव है । मृत्यु मानव के पार के बाहर की चीज है । वैसे ही दूसरों के कारण मानव की आजादी को भी एक प्रतिबंध लगता है ।

सार्त महोदय ने अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद को समन्वय करने की दृष्टि से Critique of Dialect Reason नामक एक ग्रंथ लिखा। इसमें उन्होंने मानव के इतिहास को मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से समझने के लिए कहा। सन् 1940 में अस्तित्ववाद को आधुनिक रूप में सार्त ने Being and nothingless का रूप दिया। इसी में अस्तित्वपूर्ण मनोविश्लेषण (Existential Psycho-analysis मिला हुआ है।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में सार्त का परिचय प्रथमत: श्री आर·एस· सुदर्शनम जी को दिया जाता है। वे सन् 1964 से "भारति" मासिक पत्रिका में अस्तित्ववाद के बारे में लिखना आरंभ किया। सन् 1969 में "सृजना" पत्रिका में "सार्त के साक्षात्कार" का भी प्रकाशित हुआ। सन् 1972 में "पिलुपु" पाक्षिक पत्रिका में, 1975 में "आन्ध्र प्रभा" (13·6·76) "क्या सार्त मार्क्सवाद का निराकरण करता है?" नाम से लेख छपे। श्री पन्नालाल सुब्रह्मण्यम भट्ट ने "आन्ध्रज्योति", "आन्ध्रप्रभा" में सार्त पर कई लेख लिखा। "हिमज्वाला" उपन्यास के उपन्यासकार श्री वी·चंडीदास जी ने सार्त के अस्तित्ववाद पर शोध किया।

क्रान्तिकारी लेखक संघ के गठन केबाद तेलुगु लेखक सार्त के साहित्यिक विश्वासों को अपनी रचनाओं में प्रकट किया। श्री वी·नारायण राव जी ने "तेलुगु में कविता – क्रान्ति स्वरूप नाम शोध ग्रंथ में विशेषकर सार्त से लिखा हुआ What is Literature? ग्रंथ से कई अंश लिए।

आधुनिक तेलुगु साहित्य की विविध विधाओं की रचनाओं में सार्त से विश्लेषण किया हुआ "नास्तिक अस्तित्ववाद" का प्रभाव प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से रहा। लेकिन अधिकतर यह आस्तिक दृष्टिकोण से चला यह मार्क्सवाद के विरुद्ध प्रचार के लिए एक उपकरण के रूप में काम किया।

5. अनुभूतिवाद :

भारत में अंग्रेजी सरकार के निर्माण तक आते - आते तेलुगु साहित्य में प्रबंध काव्य की रचनाएं समाप्त हुई और भाव वाद का जन्म हुआ। क्रमशः अभ्युदयवाद, विप्लववाद आया। इसी दशा में सन् 1970 - 80 के बीच विप्लव कविता के प्रकाश और उसके श्रेय को सहन नहीं कर पाने वाले कुछ कविगण ने अपने आप कुछ आत्मानुभूतियों को लेकर बेहतर से बेहतर साफ जीवन बिताना चाहा। इसी मानसिक दृष्टिकोण के कारण "अनुभूति वाद" का जन्म हुआ। एक तरह से देखा जाए तो इस वाद में ~~Inferiority~~ आत्मन्यूनता भाव (Inferiority Complex) जैसा मानसिक दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। अनुभूति को अंग्रेजी में Experience, Feeling कहा गया है। Description of the subject matter of Psychology को ही अंग्रेजी में Experience कहते हैं जो मानसिक अनुभूति होती है। अनुभूति वाद में Art for art sake (कला कला के लिए) का सारांश भी निहित है। अतः अनुभूतिवाद में पाश्चात्य साहित्य का सिद्धांत कला कला के लिए निहित है। सन् 1890 में कलावाद का आविर्भाव हुआ था। फ्रेन्च साहित्य के आलोचकों ने इसका प्रसार किया और उन्होंने 'Art has no moral-obligation' को भी प्रचार किया। सन् 1873 में Walter Pater ने History of the Renaissance नामक ग्रंथ लिखा उसने उन्होंने कलावाद के आधुनिक तत्वों पर विचार किया। कलावाद को एक तात्विक शाखा के रूप में प्रथमतः Alexander Baumgarten ने स्वीकार किया। सन् 1705 उन्होंने Aesthetica नामक ग्रंथ को Latin भाषा में लिखा। इसी वाद को Aesthetic movement भी कहा जाता है। इनका कहना है कि कविता में राजनीति को कोई भी स्थान नहीं है अथवा वह कला नहीं मानी जाएगी।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण अनुभूतिवाद का जन्म हुआ । अभ्युदय वाद क्षीण दशा में पहुंचा और मध्यम वर्ग का जीवन ही प्रधान विषय माना गया । वास्तव में यह वाद भाववाद और अभ्युदयवाद दोनों के बीच डांवाडोल होता हुआ "अनुभूति" शब्द को लेकर प्रचार में आया ।

यदि अनुभूति वाद के रूप, वस्तु, भाषा पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि इसके रूप में भाव वाद अर्थात भाव कविता के लक्षण दृष्टिगोचर होते है । अंग्रेजी के 'Lyric' का प्रभाव भी है जैसे वचन कविता, गद्य रूप आदि । भाव कविता का पद्यात्मक रूप है और अनुभूतिवाद का रूप वचनात्मक है । अनुभूतिवाद में भाषा भी सुकुमार है इसमें अलंकार, शब्द, पद पदबंध आदि सरल और मधुर है जैसे भावकविता के होते हैं ।

अगर निष्कर्षत: इस वाद के बारे में कहा जाए तो यह वाद एक संपूर्ण वाद नहीं कहा जा सकता । यह एक कमजोर दृष्टिकोण है । अनुभूति-वादियों ने जो सामाजिक, नैतिक, जाति भाव अपनी कविता में हैं कहते हैं लेकिन यही भाव भाव कविता में भी है । बल्कि भाव कविता में जीवन के प्रति सहानुभूति है लेकिन वह अनुभूति कविता में क्षीण हो गई है । अनुभूति-वादियों का प्रयत्न यह रहा कि जनता को साहित्य से, साहित्य को राजनीति से, राजनीति को जनता से बचाना । इसी प्रयत्न को लेकर इन अनुभूतिवाद के अनुयायी साहित्यकारों ने अपनी रचनाएं की ।

6. विप्लववाद :

आधुनिक तेलुगु साहित्य में मार्क्सवाद से प्रभावित होकर जो अभ्यु-दयवाद नामक वाद का आविर्भाव हुआ उसकी जड़ें सन् 1935 के आन्ध्र के

चुनाव में कम्युनिस्टों के हार के कारण क्षीण हो गयी । श्री श्री, कुटुंब राव नार्ल चिरंजीवी, टी·वेंकटरामय्या, के·वी·रमणाराव आदि ने इस वाद को बनाये रखने के लिए बड़ी मेहनत की लेकिन असफल रहे । सन् 1962 - 64 के बीच कम्युनिस्टों में विभेद हुए और यह अलग अलग विभाजित हो गया । सन् 1967 में नक्सलबरी, श्रीकाकुलम में क्रान्तिकारी कम्यूनिष्ट के नेतृत्व में कई मारपीट, सायुध लड़ाइयां हुई । इसी की प्रेरणा से सन् 1969 में "तिरुगुबडु" , 1970 में "मार्च" नामक कविता संकलन छपे । सब्बुराव पाणि ग्राहि जी ने उस लड़ाई में प्रत्यक्ष रूप में भाग लिया और कई क्रान्तिकारी गीत लिखे । सन् 1970 में विशाखापट्टणम में श्री श्री जी के षष्टिपूर्ति समारोह में "लेखकों को चुनौति" नाम से कुछ करपत्र बांटे गये । इसी समय इनसे प्रभावित होकर श्री श्री कुटुंबराव, रमणारेड्डी आदि ने अभ्युदय कवि अलग होकर दिगंबर कवियों से मिलकर "विप्लव रचयितला संघमु" (वि·र·सं) की स्थापना की । वि·र·सं· का अर्थ है "क्रान्तिकारी लेखकों का संघ" सन् 1970, अक्तूबर में इसका एक सम्मेलन खम्मम में हुआ । तेलुगु साहित्य में इस "विप्लवमु" शब्द के कई अर्थ भेद - विभेद हुए है । कुछ लोग इसे मार्क्स-वाद की दृष्टिकोण से कुछ लोग साम्यवाद की सोषलिजम की दृष्टिकोण से देखते हैं ।

क्रान्तिकारी लेखक यह मानते है कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रूस अमेरिका के जैसा ही एक सम्राज्यवाद है और वह अमरीका से ज्यादा खतर-नाक है । अमेरीका की तरह रूस भी तटस्थ देशों में आर्थिक विषमताएं ला रही है, इसी को वे "सोषल साम्राज्यवाद का भी नाम देते हैं ।

चीन को वे क्रान्ति का केन्द्र मानते है । अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग, सलाह आदि की सहायता करना इसका काम है । 1947 में भारत में अधिकार - परिवर्तन हुआ । वे मानते हैं कि विदेशी सरकार स्वदेश के

बूर्जुआ वर्ग को अधिकार देकर चले गये हैं । सही मान्य में भारत आजाद नहीं हुआ । इस तरह क्रान्तिकारी कम्यूनिस्टों के विचार में भारतीय जनता का संघर्ष साम्राज्यवाद, बूर्जुआ वर्ग के विरुद्ध होना चाहिए ।

1970 के सम्मेलन में विरसं के लेखकों ने एक प्रस्तावना किया, उसके अनुसार मार्क्सवाद को केवल शास्त्र के रूप में नहीं बल्कि शस्त्र (हथियार) के रूप में प्रयोग करना चाहिए । नवीन प्रजातांत्रिक क्रान्ति के लक्ष्य के रूप में मार्क्सवाद, लेनिनवाद, माओ के सिद्धांतों को विर सं० अपने कार्यों के लिए कार्यक्रम के रूप में लेगा । सोशल साम्राज्यवाद में जो जाति - वर्ग - विभेद है, जो अधिकार वर्ग धनिकों के हाथ में उसका यह विद्रोह करेगा ।

वि र.सं० में तीन ग्रुप हो गये । सन् 1975 में अनंतपुरम के सम्मेलन में इसमें से एक वर्ग अलग हो गया ।

विप्लववाद का जितना विकास इन गीतों के माध्यम से आधुनिक तेलुगु साहित्य में हुआ है उतना साहित्य की अन्य विधाओं से नहीं हुआ ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में सन् 1970 - 1980 के बीच के समय को विप्लव वाद युग माना जाता है । यह वाद रूपवाद तथा व्यक्तिवाद पर विजय पाया है । यह परिश्रम जितना गीतों, कविताओं में हुआ है उतना गद्य में नहीं हुआ । क्रान्तिकारी राजनीति के भविष्य पर ही विप्लव साहित्य का भविष्य आधारित है । कुछ स्थानों पर यह वर्गों में विभाजित हो गया है जो चीन की प्रशंसा करते हैं, कुछ रूस की । कंपूचिया की समस्या पर भी इनमें मतभेद है । इन परिस्थितियों में यह क्षीण हो गया है ।

अध्याय - 6

आधुनिक हिंदी आलोचना का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में

अध्याय - 6

आधुनिक हिंदी आलोचना का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आलोचना के आरंभ और विकास पर संस्कृत और पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों का बहुत सीमा तक प्रभाव है । यह प्रभाव इतनी अधिक मात्रा में और इतनी अधिक स्पष्टता से है कि हिंदी आलोचना के संबंध में आज भी एक सामान्य धारणा बनी हुई है कि उसका अपना मौलिक रूप नहीं है अर्थात् हिंदी आलोचना की अपनी कोई अस्मिता नहीं है और वह पूर्णत: संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धांतों की ऋणी है । इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए । इसी कारण प्रस्तुत अध्याय का विवेच्य विषय है कि हिंदी आलोचना का सत्व क्या है ? अर्थात् भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धांतों का प्रभाव लेते हुए भी हिंदी आलोचना ने कहाँ तक अपनी निजी पहचान बनायी है । आधुनिक युग में औद्योगीकरण और वैज्ञानिक साधनों के विकास के कारण मुद्रण एवं प्रकाशन की बहुत बड़ी सुविधा भाषाओं तथा साहित्य को मिली । भारतीय

भाषाओं में विशेषकर हिंदी और तेलुगु में गद्य विधाओं का अभूतपूर्व विकास इसी भौतिक सुविधाओं और वैज्ञानिक चेतना के कारण हुआ । गद्य विधाओं के इसी विकास - प्रक्रिया के अंतर्गत हिंदी आलोचना का भी विकास हुआ । स्पष्ट है कि यह विकास धीरे - धीरे अपने भारतीय तथा पाश्चात्य प्रभाव स्त्रोतों से जुड़कर भी उससे मुक्त होने के क्रम में तथा अपनी निजी अस्मिता बनाने की चेष्टा में दिखाई देता है । हिंदी के अपने आलोचना शास्त्र की संभावनाओं पर विचार करते हुए डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है --"कम से कम हिंदी के पास इतना मूल धन अवश्य विद्यमान है कि इसके आधार पर एक अच्छे काव्यशास्त्र का निर्माण किया जा सकता है जो संस्कृत तथा अंग्रेजी का उपजीवी न होकर हिंदी की अपनी संपत्ति होगा ।"[1] इसी प्रश्न को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने बताया था कि तीन आधारों पर हिंदी के निजी आलोचना शास्त्र की रूप - रेखा बनायी जा सकती है । ये तीन आधार हैं - §1§ हिंदी के लक्षण ग्रंथों में मौलिकता §2§ हिंदी के प्राचीन काव्य में मौलिक सामग्री §3§ हिंदी के आधुनिक काव्य में मौलिक सामग्री । यहाँ हमारा आलोच्य विषय आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना - सिद्धांतों का विकास है । इसी कारण डॉ0 नगेन्द्र के सुझावों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी मेरा विनम्र प्रयास रहेगा कि मैं आलोचना -सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में हिंदी आलोचना के सत्व की रूपरेखा प्रस्तुत करूं और यह रूपरेखा हिंदी आलोचना के विभिन्न चरणों में विभिन्न समीक्षकों को दृष्टि में रखते हुए और सिद्धांतों का क्रमिक विकास बताते हुए ही की जा सकती है ।

हिंदी आलोचना के आरंभ में ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे कवि - आचार्यों के महत् प्रयास से इसकी दिशा निर्धारित होती दिखायी देती है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने सीमित परिप्रेक्ष्य में

आलोचना को भौतिक और सामाजिक यथार्थ से जोड़ने की चेष्टा की अर्थात भारतेन्दु द्वारा किया गया नाट्य चिन्तन, अनुवाद - महत्व, कविता में ग्राम चेतना पर बल तथा खड़ी बोली का समर्थन आदि तत्व ऐसे हैं जो उन्हें बदलते युग की चेतना से जोड़ता है । उन्हीं के समय प्रेमघन ने लिखा था --"साहित्य का संगठन समय के अनुसार हुआ करता है ।" इनके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी घोषणा करते हैं कि "ज्ञान राशि की संचित कोश का नाम साहित्य है ।" तो वे एक नयी दिशा का प्रवर्तन करते हैं । द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना को मध्यकालीन काव्यशास्त्रीय मानदंडों के पिष्ट प्रेषण से बचाने की चेष्टा की और अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपने सन् 1903 में लिखित निबंध हिंदी भाषा और उसके साहित्य" में बतलाया है कि "नायिका भेद और रस तथा अलंकार के विवेचन से पूरी पुस्तकों की भी इस समय आवश्यकता नहीं-----यदि इन ग्रंथों के बनाने (अथवा बनवाने) और छापने में जो धन व्यय किया गया वह जीवन चरित, इतिहास अथवा किसी वैज्ञानिक ग्रंथ के लिए व्यय किया जाता तो भाषा का भी उपकार होता और धन का भी सद्व्यय होता ।" यह सामंती रुचि के विपरीत एक नये आधुनिक जनाभिमुख रुचि की प्रस्तावना है । इस नयी दिशा का निर्देश करते हुए उन्होंने यह भी लिखा --"इस समय अंग्रेजी का साहित्य अत्यन्त उन्नत दशा को प्राप्त है । अतएव हम को चाहिए कि उस भाषा के अच्छे - अच्छे ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी साहित्य की दशा को सुधारें इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रावर्णन, जीवन चरित और समालोचनाओं की हिंदी में बड़ी भारी न्यूनता है । इस न्यूनता को पूरा करना हिंदी बोलने वालों का परम धर्म है ।" स्पष्ट है कि द्विवेदी जी हिंदी आलोचना को न केवल एक नये स्त्रोत - पाश्चात्य - की ओर उन्मुख करना चाहते थे बल्कि उसके अपने व्यक्तित्व का निरूपण भी उनका लक्ष्य था ।

आगे चलकर उनके इस बृहत् संकल्प को पूरी क्षमता के साथ साकार किया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने । कहा जा सकता है हिंदी आलोचना

को उसके दोनों प्रभाव स्त्रोतों से जोड़ते हुए उसके अपने व्यक्तित्व निर्माण का महत्तर कार्य शुक्ल जी ही संपन्न करते हैं । इसलिए शुक्ल जी के आलोचना सिद्धांतों के विस्तृत विवेचन के द्वारा हिंदी आलोचना के सत्व निरूपण का प्रयास किया जा सकता है । शुक्ल जी ने आलोचना को आधुनिक वैज्ञानिक और जनाभिमुख मोड़ दिया । इसके साथ आलोचना को रचना केन्द्रित बनाने का कार्य भी उन्हीं का किया हुआ है । उन्होंने साहित्य के लिए एक अच्छी आलोचना दृष्टि के निर्माण का प्रयत्न किया है जो हिंदी आलोचना को सबसे बड़ी देन है । उनका यह दृष्टिकोण भौतिकवादी सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार भौतिक जगत ही ज्ञान और भाव का आधार है शुक्ल जी ने --"कविता क्या है" निबंध में कहा है : " जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिए ।ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेंद्रियां उपस्थितकरती हैं । फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है । अत: यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भाव प्रसार के/भीतर ही भाव- प्रसार होता है । प्रारंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियन ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही । फिर ज्यों-त्यों अंत:करण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गयी । ज्यों- त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि - व्यवसायात्मक होता गया ।"[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि वे इंद्रिय - बोध को ही भाव और विचार का आधार मानते हैं । भाव का शुक्ल जी के लिए अधिक महत्त्व है । कविता के लिए भाव होना आवश्यक है । आधुनिक हिंदी साहित्य में भाव के विरूद्ध जो आन्दोलन चल पड़ा है, शुक्ल जी इसके विरूद्ध है । शुक्ल जी के मतानुसार "मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूलवृत्ति भावात्मकता है ।" और "कविता तो भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है ।"[2] शुक्ल जी भाव के निषेध के पक्ष में नहीं हैं, बल्कि कविता द्वारा उसके परिष्कार के पक्ष में हैं ।

(संचार के लिये मार्ग खोलता है/ ज्ञान प्रसार के

उन्होंने लिखा कि "मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है । नीतिज्ञों और धार्मिकों के मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषंड है । इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते, बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपर्युक्त संबंध निर्वाह पर जोर देते हैं ।"[4] कविता के कार्य के संबंध में शुक्ल जी ने बताया है कि मनुष्य के हृदय का स्वार्थ की सीमाओं से मुक्त करना और कहा है "इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञान योग का समकक्ष मानते हैं ।"[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य में शुक्ल जी से पहले कविता के महत्व की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया गया था । वे इस गोचर जगत को ही भाव का मूल उत्पादन केन्द्र बतलाते हैं ।

शुक्ल जी ने आलोचना के लिए मूल स्त्रोत रसवाद चुना है लेकिन वह संस्कृत आचार्यों द्वारा स्थापित रसवाद की पुनरावृत्ति नहीं है। शुक्ल जी ने रसवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर साहित्य के एक पूर्ण और प्रगतिशील सिद्धांत के रूप में इसको लिया है । "काव्य में रहस्यवाद" शीर्षक निबंध में अगोचर सत्ता को आलंबन बनाकर काव्य रचना करने से साहित्य के क्षेत्र में जो उलझने पैदा हुई थीं, उसका जिक्र करने के बाद वे कहते हैं :"हमारे ब हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत से है । इसी बात के आधार पर सारे संसार में रस - पद्धति चली है और सच्चे स्वाभाविक रूप में चल सकती है । मजहबी सुभीते के लिए अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय करने से मूल आलंबन को छाया और छाया को मूल आलंबन बनाने से कला के क्षेत्र में कितना आडंबर खड़ा हुआ है । इसका अन्दाजा ऊपर के ब्यौरे से लग सकता है ।"[6] शुक्ल जी के इस मत से यह स्पष्ट होता है कि भाव को वस्तु के स्थान में प्रतिष्ठित कर वस्तु को ही भाव पर अवलम्बित बतलाना "अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय है । भाव वाद वस्तु से

अधिक महत्व भाव को देता है । शुक्ल जी भाव वाद का नकार कर भौतिकवादी दर्शन की सहायता से रस का आधार स्पष्ट करते हैं । संस्कृत आचार्यों की मान्यता के अनुसार रस की अनुभूति एक अलौकिक वस्तु है । शुक्ल जी इसके विरुद्ध में रसानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए कहते हैं कि "रसानुभूति प्रयत्क्ष या वास्तविक अनुभुत से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त रूप है । हमारे यहाँ के आचार्यों ने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वासना रूप में स्थित भाव ही रस रूप में जगा करते हैं । यह वासना या संस्कार वंशानुक्रम से चलती आती हुई दीर्घ भाव - परंपरा का मनुष्य जाति की अंत: प्रकृति में निहित संचय है ।"[7] अत: शुक्ल जी के इस मत से यह ज्ञात होता है कि रसानुभूति ममत्व और परत्व से परे अर्थात साधारणीकृत होती है । व्यावहारिक जीवन में इस अनुभूति के दो प्रकार शुक्ल जी ने बताया है, वे है - प्रत्यक्ष और स्मृति पर आधारित और इसके उदाहरण भी शुक्ल जी ने दिये हैं ।

करुणरस के विवादास्पद आस्वाद के संबंधमें शुक्ल जी का कहना है कि "करुण रस - प्रधान नाटक के दर्शकों के आसुओं के संबंध में यह कहना है कि "आनंद में भी तो आंसु आते हैं केवल बात टालना है । दर्शक वास्तव में दु:ख ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दु:ख भी रसात्मक होता है ।"[8] अत: सुखात्मक और दुखात्मक लौकिक अनुभूतियों के "रसात्मक" होने के कोई बाधा नहीं रह जाती । शुक्ल जी के अनुसार कविता का कार्य मनुष्य के हृदय को स्वार्थमुक्त करना । इसलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तवस्था रस दशा कहलाती है ।"[9] शुक्ल जी के

लिए हृदय की मुक्तावस्था एक ठोस अर्थ रखती है । कवि की भावुकता के बारे में शुक्ल जी के विचार अति महत्त्वपूर्ण हैं । इसके माध्यम से उन्होंने रस पर ही विचार किया है और भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों के समान रस की सीमा केवल श्रृंगार या वीर तक नहीं मानी है । --"पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द- शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें ।"[10]

साधारणीकरण के संबंध में शुक्ल जी की मान्यता है कि कविता मनुष्य को जिस प्रक्रिया से व्यक्तिगत संबंधों से ऊपर उठाकर सामान्य संबंधों की भूमि पर ले जाती है वही साधारणीकरण है । शुक्ल जी ने "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद" शीर्षक अपने निबंध में इस प्रक्रिया पर बहुत ही व्यावहारिक ढंग से विचार किया है । उन्होंने कहा है "(साधारणीकरण में) व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है ।"[11] इसलिए शुक्ल जी ने "आलंबनत्व - धर्म" साधारणीकरण की बात भी कही है । साधारणीकरण का पक्षपाती होने के कारण उन्होंने कविता में व्यक्ति वैचित्र्य का प्रमुखता देने वाले पश्चिमी काव्य सिद्धांत का विरोध किया और कहा - "भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न - भिन्न विशेषों के भीतर से "सामान्य" के उद्घाटन की ओर बराबर रही है । किसी न किसी "सामान्य" के प्रतिनिधि होकर ही "विशेष हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं । पर यूरोपीय काव्य - दृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल विशेष के विधान की ओर रही है । हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में संतुष्ट रहे जो मनुष्य मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ आया है । पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत

विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं ।"[12] साधारणीकरण के अनुसार कविता में उन्हीं वस्तुओं का चित्रण या वर्णन होना चाहिए जो असाधारण न हो, शुक्ल जी इसी के पक्षपाती है । रस सिद्धांत के अनुसार कविता की दो वस्तुएं होती है - विभाव और भाव, इनके बारे में बतलाते हुए शुक्ल जी ने स्पष्ट किया कि "भाव प्रधान कविता में - ऐसी कविता में जिसमें संवेदना की विवृति ही रहती है - आलंबन का आक्षेप पाठक के ऊपर छोड़ दिया जाता है । विभाव प्रधान कविता में - ऐसी कविता में जिसमें आलंबन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है - संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है ।[12] इस प्रकार कविता भाव प्रधान और विभाव प्रधान दोनों प्रकार की होती है । शुक्ल जी भाव को अनुपयोगी नहीं समझते थे । उनके अनुसार कुछ भाव आनन्द की सिद्धावस्था के भाव होते हैं । और कुछ आनन्द की साधनावस्था के । "काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था" शीर्षक अपने निबंध में उन्होंने इन भावों के बारे में विचार किया है ।

शुक्ल जी का काल विदेशी उपनिवेशवाद और देशी सामन्तवाद के विरुद्ध उग्र संघर्ष का काल था । प्रयत्न पक्ष की कविता को उनके द्वारा श्रेष्ठ कविता बतलाये जाने का कारण उनका समाज ही है । रस सिद्धांत का विरोध हिंदी छायावाद काल से आरंभ हुआ । इस पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" शीर्षक व्याख्यान में कहा था "आज कल इस प्रकार के लटके कि "रस - अलंकार तो पुरानी चीजें हैं, उनका जमाना गया" इधर से नोचकर ही दुहराये जाते हैं । वे कहां से आये हैं, उनका पूरा मतलब क्या है, यह सब जानने या समझने की कोई जरूरत नहीं समझी जाती । इन वाक्यों को बात-बात में दुहराने वालों में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस - अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यहृत शब्द हैं, अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद नहीं । इससे इनका नाम लेना फैशन के खिलाफ है । दिन में सैकड़ों बार हृदय की

अनुभूति, हृदय की अनुभूति, चिल्लाएगी, पर "रस" का नाम सुनकर ऐसा मुंह बनाएगी मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आए हैं। भलेमानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में "रस" और "भाव" कहलाती है।"[13]

शुक्ल जी ज्ञान को साथ लेकर चलने के पक्ष में हैं इसलिए आधुनिक काल में पश्चिमी जगत में जो आबुद्धिवाद का आन्दोलन उठा था, उसका अत्यन्त कठोरता के साथ विरोध किया। कविता में साध्य और साधन के भेद को स्वीकार कर शुक्ल जी चलते हैं। उनके अनुसार रस कविता का साध्य है और अलंकार उसका साधन। शुक्ल जी उक्ति को कविता मानते हुए भी उक्ति मात्र को कविता नहीं मानते हैं। अपनी इसी मान्यता पर उन्होंने प्रसिद्ध यूरोपीय सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खंडन किया है। क्रोचे ने अभिव्यंजना को ही सब कुछ माना और उसमें निहित अर्थ की उपयोगिता को महत्त्व नहीं दिया, इसका कारण उनका भाववादी होना है। शुक्ल जी ने आत्मा को नहीं, बल्कि ज्ञान को अनुभूति का आधार माना। अलंकार के संबंध में शुक्ल जी की धारणा बहुत ऊँची है, उनके अनुसार भिन्न - भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं और कविता में कही गयी बात अपने सामने चित्र रूप में आनी चाहिए। अतः वे काव्य में बिंबात्मकता होने के पक्षधर में है और इसके लिए अलंकार सहायक होते हैं। लेकिन वे कविता में बिम्बवादियों की हद तक बिंबयोजना के पक्ष में न थे। बिम्बवादियों की आलोचना में उन्होंने लिखा है "अपने सिद्धांत के अनुसार ये मूर्त भावना खड़ी करने वाले (Concrete) शब्द ही कविता के लिए उपयुक्त समझते थे, भाव वाचक (Abstract) शब्दों को दूर रखने की सलाह देते थे। इनका कहना था कि मूर्त भावना वाले

शब्द कल्पना में स्पष्ट और स्थायी रूप विधान भी करते हैं और सबको समान रूप से बोधगम्य भी होते हैं । वर्णनात्मक (Descriptive) और विचारात्मक (Philosophical) कविता का ये विरोध करते थे । इनके सिद्धांत में सत्य का बहुत कुछ आधार था, पर ये उसे बहुत दूर तक घसीट ले गये।"[14] शुक्ल जी ने बिम्ब के लिए दृश्य शब्द का भी प्रयोग किया है । वे न "दृश्य बिम्ब को स्वतंत्र महत्व देते हैं न ही श्रव्य बिम्ब को, फ्रांस के संवेदनवाद के नाद - शक्ति पर अधिक बल दिये जाने पर भी शुक्ल जी ने उसका विरोध किया है । अलंकार, बिंब, नाद - सौंदर्य और छंद के संबंध में शुक्ल जी ने जो चिंतन की है वह अतीत और वर्तमान दोनों को ध्यान मेंरखकर प्रस्तुत किया । क्योंकि उन्होंने अतीत की रीतिकालीन कविता का भी विरोध किया है और यूरोप की आधुनिकतावादी कविता का भी विरोध किया है । रस - सिद्धांत के आधार पर शुक्ल जी ने सौंदर्य को वस्तु निरपेक्ष भाव - मात्र नहीं माना है । सौंदर्य रूप से स्वतंत्र नहीं होता, उनके अनुसार कविता रसात्मक तभी समझी जाती है, जब कि पाठक का मन अपने स्वार्थ की सीमाओं से मुक्त होकर उसमें लीन हो जाए । उनके अनुसार सुंदर या कुरूप - काव्य के दो पक्ष होते हैं, शुक्ल जी ने प्रबंध और मुक्तक इन काव्य रूपों पर भी रस की दृष्टि से ही विचार किया है । शुक्ल जी ने मुक्तक काव्य की उपेक्षा नहीं की, लेकिन रस की दृष्टि से प्रबंध को अधिक महत्व दिया है । उनके अनुसार मुक्तक या प्रबंध तभी श्रेष्ठ होते हैं, जब उसमें साधारणीकरण की अधिक से अधिक संभावनाएं हों । शुक्ल जी ने प्रधानत: रीतिकालीन मुक्तकों की ही आलोचना की है । रस की दृष्टि से ही इन दोनों में किसी एक को उन्होंने श्रेष्ठ समझा है ।

कविता को शुक्ल जी हर तरह से लोक से संबद्ध मानते थे । लोक शब्द का प्रयोग शुक्ल जी ने समाज" अर्थ में किया है, और लोकवाद को सोशलिज्म के पर्याय रूप में व्यवहृत किया है । रहस्यवादी कविता में रसोद्रेक

की क्षमता नहीं होती, क्योंकि उसमें व्यक्त भावों का आधार वास्तविक नहीं होता । इसलिए कविता में रस का आग्रह ही शुक्ल जी को रहस्यवाद के विरोध तक ले गया । जहां तक रहस्यवादी कविता को स्वतंत्र रूप से स्वीकार करने का प्रश्न है वे उसे वहीं तक स्वीकार करते है जहां तक वह परोक्ष सत्ता के प्रति "जिज्ञासा" के भाव की अभिव्यक्ति करती है । शुक्ल जी ने विशेषत: हिंदी के भक्त कवि तुलसी, सूर और जायसी के काव्य का और सामान्यत: हिंदी साहित्य के संपूर्ण इतिहास का मूल्यांकन किया और आश्चर्यजनक रूप में सैद्धांतिक आलोचना के साथ - साथ हिंदी की व्यावहारिक आलोचना को भी विकसित किया । द्विवेदी युगीन आलोचना की सीमाओं का संकेत करते हुए उन्होंने अपना ग्रंथ "हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखा है -"स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएं दिखायी जाती हैं । बहुत ही कम दिखायी पड़ी ।"[15] शुक्ल जीने लिखा है " समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशांत रूचि दोनों अपेक्षित हैं, न रूचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रूचि । अत: विद्वत्ता से संबंध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism) और रूचि से संबंध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक है ।"[16] यहां निर्णयात्मक आलोचना से शुक्ल जी का मतलब कविता के शास्त्र पक्ष से है और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना से उसके भाव पक्ष से, जिससे पाठक का संबंध होता है । उन्होंने स्पष्ट किया है कि हद से बाहर चले जाने पर ये दोनों आलोचनाएं एक - दूसरे के विरूद्ध हो जाती हैं, इसीलिए आलोचना में इन दोनों पद्धतियों का सामंजस्य होना चाहिए । अत: शुक्ल जी शास्त्रीयता के रूढ़ियों में बंधे हुए आलोचक नहीं थे । उनका विवेचन शास्त्रीय है, पर उसके भीतर सहृदयता की स्वच्छंदधारा बहती है । शुक्ल जीमें नियम हीनता नहीं है पर प्राचीन नियम बद्धता भी नहीं है । उन्होंने लिखा है -"हम सारा काव्यक्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखने वाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी

रहे हैं और न हैं । हम अपने हिंदी काव्य को विश्व की नित्य और अनंत विभूति में स्वच्छंदता पूर्वक, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आंख खोलकर, विचरण करते देखना चाहतेहैं ।"[17] इससे यह स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी कितने स्वच्छंदतावादी आलोचक थे । इसके मूल में उनका जनवादी दृष्टिकोण है जो सामंतवाद के विरोध है । यही दृष्टिकोण ने शुक्ल जी को रीतिकाव्य का कटु आलोचक और भक्ति काव्य का प्रबल समर्थक बनाया ।

आधुनिक हिंदी कविता में छायावाद के साथ एक दूसरी काव्य धारा की भीकल्पना शुक्ल जी ने की है । यह धारा है स्वच्छंदतावादी काव्य धारा । इसी के संबंध में उन्होंने कहा कि "पंडितों की बांधी प्रणाली पर चलने वालीकाव्य धारा के साथ- साथ सामान्य अपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छंद और प्राकृतिक भाव धारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है - ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य भाषा के साथ- साथ लोक भाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है । जब पंडितों की काव्य भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोक भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोक-भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य- परंपरा में नया जीवन डालता है ।"[18] इस प्रकार अपनी बात स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी सच्चा स्वच्छंदतावाद उसी को मानते हैं जो परंपरागत शास्त्रीय कविता की रूढ़ियों से भी मुक्त हो और जिसका संबंध हृदय की स्वाभाविक अनुभूति से भी हो । शुक्ल जी ने जिस तरह आधुनिक हिंदी कविता पर आलोचनात्मक ढ़ंग से विचार किया है, उसी तरह आधुनिक गद्य साहित्य पर भी किया है ।उन्होंने भारतेन्दु की भावावेश की शैली और तथ्य - निरूपण की शैली को अलग - अलग बतलाया है । उन्होंने कहा कि "भावावेश के कथनों में वाक्य प्राय: बहुत

छोटे - छोटे होते हैं और और पदावली सरल बोलचाल की होती है, "किंतु " तथ्य - निरूपण या सिद्धांत - कथन के भीतर संस्कृत शब्दों का कुछ अधिक मेल दिखायी पड़ता है ।"[19]

इस प्रकार शुक्ल जी की आलोचना की मान्यताएं अत्यंत स्पष्ट और खरी हैं । शुक्ल जी का रस सिद्धांत मूलत: भारतीय है लेकिन उसे उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर परखा है । शुक्ल जी के अनुसार रस का आधार रागात्मक वृत्ति होती है । रस सिद्धांत को शुक्ल जी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान और आलोचना के ज्ञान से परखा है और संवर्धित किया है । शुक्ल जी की आलोचना पद्धति पाश्चात्य इसलिए है कि उन्होंने बीज तो भारतीय काव्यशास्त्र से लिया किन्तु आधुनिक विचार धारा में उसे विकसित किया । उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के शब्दों का सुस्पष्ट और सार्थक प्रयोग करते हुए पाश्चात्य आलोचना के हिंदी पर्यायवाची शब्द भी लिये हैं। शुक्ल जी की आलोचना स्वच्छंदतावादी है । वे यह प्रमाणित करते है कि "साहित्य के शास्त्र - पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य - चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिबंध के लिए नहीं ।"[20] इससे स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी शास्त्रीय सिद्धांतों की खूबियों के साथ - साथ स्वच्छंदतावादी खामियों से भी परिचित थे । इन्होंने जहाँ भारतीय (संस्कृत) काव्य शास्त्र की रूढ़ियां तोड़ी वहां पाश्चात्य काव्य शास्त्र के व्यक्तिवाद को भी नकारा ।

हिंदी समीक्षा के सत्व को रेखांकित करने में अगला नाम आता है श्री नंद दुलारे वाजपेयी जी का। वैसे उनके पूर्व बाबू गुलाबराय ने रस सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक परीक्षा करते हुए उसके सीमाओं का निर्देश किया था । नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना पद्धति समन्वय वादी मानी जाती है उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही समीक्षा शास्त्रों के समन्वित आधार पर

हिंदी आलोचना की विकास की चेष्टा की । उनके अनुसार पश्चिम का सब कुछ अनुकरणीय नहीं है । विशेषकर वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित समीक्षा, मार्क्सवादी समीक्षा, कला विज्ञानवादी पुरानी समीक्षा तथा उपयोगितावादी या नीतिवादी समीक्षा पद्धतियां साहित्य को उसकी साहित्यकता से दूर ले जाती हैं । वाजपेयी जी क अनुसार समीक्षा के मानदंड रचना से निकाले जाना चाहिए न कि बाहर से उन्हें आरोपित किया जाना चाहिए । उनके शब्दों में "साहित्य में रूप ही वस्तु है और वस्तु ही रूप है । वस्तु और रूप के इस अनुस्यूध संबंध को समझना ही सबसे बड़ी साहित्यिक साधना है ।"[21] अर्थात वाजपेयी जी के अनुसार " रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है किन्तु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता प्राप्त रहनी चाहिए । जब समीक्षा साहित्य सृष्टि कर नियंत्रण करने लगती है तब निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती ।"[22] वाजपेयी जी ने रस सिद्धांत को एक व्यापक आधार दिया । उनके अनुसार "जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा हैतब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुत: काव्य है, मानव समाज के लिए आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होता है । "रस" शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतवादी सत्ता से ही है ।" यह रस सिद्धांत की मानवतवादी व्याख्या है । वाजपेयी जी ने ध्वनि - सिद्धांत की प्रशंसा करते हुए उसे पश्चिम के लिए भारत की देन बताया है । वाजपेयी जी की आलोचना दृष्टि को छायावादी काव्य धारा ने बहुत आकर्षित किया । उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद को स्वच्छंदतावाद की ही विभिन्न शैलियां माना ।

डा० नगेन्द्र ने वाजपेयी जी के समान समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया । यह समन्वय है प्राचीन और नवीनता । उन्होंने रस सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसकी परिधि में अभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद और प्रतीकवाद आदि

सिद्धांतों का समावेश किया । उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा पर अधिक बल दिया । पाश्चात्य समीक्षकों में एडिसन, कालरिज, रिचर्ड्स, क्रोचे और इलियट को विशेष महत्त्व देते हुए उनकी प्रतिपत्तियों का उपयोग किया । डा० नगेन्द्र ने रस सिद्धांत को आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रतिपत्तियों से जोड़ा है ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की भूमिका हिंदी आलोचना के व्यक्तित्व निर्माण में विशेष महत्त्वपूर्ण है । द्विवेदी जी वैसे तो साहित्य. इतिहासकार और रचनाकार रहे हैं । किन्तु इस क्रम में उनकी आलोचनाकी पद्धति और मानदंड विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं । द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना को भारतीय और पाश्चात्य प्रभाव स्त्रोतों के विरोध में या समानांतर खड़ा नहीं किया है बल्कि इस विवाद से हटकर हिंदी आलोचना को एक नैरंतर्य और उपदेश्य प्रदान किया । यह नैरंतर्य है सांस्कृतिक चेतना और उपदेश्य है । मानवतावाद । उनके शब्दों में "हमारा परम लक्ष्य मनुष्यतत्त्व है"[22] आगे उन्होंने कहा "अगली मानवीय संस्कृति, मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी ।"[23] द्विवेदी जी का आदर्श संपूर्ण मनुष्यता के लिए है । हिंदी साहित्य की आलोचना के लिए उन्होंने संपूर्ण भारतीय संस्कृति की भूमिका को ध्यान में रखा है । भक्ति आन्दोलन के उद्भव और विकास को लेकर द्विवेदी जी और शुक्ल जी की मान्यताओं का टकराव वास्तव में दो परस्पर भिन्न दृष्टिकोणों का टकराव है । शुक्ल जी जहां विधेयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए कारण और कार्य के क्रम में भक्ति आन्दोलन के मूल में भारत में इस्लाम के आगमन को कारण मानते हैं, वहां द्विवेदी जी इसे भारतीय चिन्ताधारा का ही स्वाभाविक विकास मानते हैं । एक की दृष्टि में बाह्य मानदंड प्रमुख हैं और दूसरे की दृष्टि में संस्कृति का सहज विकास प्रमुख है । सच तो यह है कि ये दोनों ही दृष्टियां हिंदी आलोचना के व्यक्तित्व का संवर्धन करती हैं । द्विवेदी जी ने लिखा कि

काव्य केवल कौशल नहीं है ।"[24] और "रस ध्वनि ही काव्य का प्राण है।"[25] काव्य में छंद को महत्त्व देते हुए उनका कहना है कि "छंदोहीन भाषा में कल्पना और सम्मूर्तन तो हो सकते हैं पर आवेग का कंपन नहीं होता ।"[26] छंद को महत्त्व देते हुए उन्होंने लिखा "छंद व्यक्ति विशेष की पृथक भूत: शक्ति का परिचायक नहीं है, वह एक समूहगत शक्ति है, एक चित्त के अनुभव का अनेक चित्तों में अनायास संचारित करने वाला महान साधन है ।"[27] छंद की यह व्याख्या मौलिक है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी के सिद्धांत भी रचना केन्द्रित हैं और उन्होंने आलोचना में सामाजिक यथार्थवादी और व्यावहारिक पद्धतियों का निदर्शन किया।

हिंदी आलोचना में आगे चलकर अलग - अलग विचार धाराओं के क्रम में अपना स्वरूप निर्माण किया । यहाँ उल्लेखनीय है कि हिंदी साहित्य की विशेषकर काव्य की विभिन्न धाराओं के साथ आलोचना की मानदंडों का विकास हुआ। हिंदी में छायावादी/ मानदंडों को विकसित किया तो प्रयोगवादी काव्य धारा ने प्रयोगवादी आलोचना दृष्टि का विकास किया । अज्ञेय के मानदंड पाश्चात्य आलोचना की अधिक नज़दीक हैं । उनके अनुसार काव्य में भाषा, शिल्प और संवेदना तीनों स्तरों पर परिवर्तन अपरिहार्य बन गया था । काव्य में बौद्धिकता और अनुभूति की संश्लिष्टता को महत्त्व देते हुए अज्ञेय ने व्यक्तिवादी विचारधारा को ही आगे बढ़ाया । नयी कविता के साथ अमेरिका से आयातीत नयी आलोचना (न्यू क्रिटिसिज्म) का उपयोग लक्ष्मीकांत वर्मा और नामवर सिंह जैसे लोगों ने किया । नयी आलोचना यद्यपि सर्वथा नयी शब्दावली लेकर प्रकट हुई किन्तु धीरे - धीरे इसमें भारतीय परिधान ग्रहण किया । आधुनिकता का सिद्धांत भी इसी क्रम में विकसित हुआ जिसे डा० रघुवंश, डा० जगदीश गुप्त, डा० इन्द्रनाथ मदान जैसे समीक्षकों के आगे बढ़ाया । इसी क्रम में रमेशचन्द्र शाह, धनंजय वर्मा, विजयदेव नारायण साहि आदि नाम उल्लेखनीय हैं ।

/ काव्यधारा में आलोचना को छायावादी

हिंदी आलोचना के सत्व निरूपण के संबंध में मार्क्सवादी आलोचना का अलग से उल्लेख किया जाना आवश्यक है । कारण यह है कि हिंदी में प्रगतिवादी रचना दृष्टि के साथ आलोचना के मानदंडों ने प्रवेश किया और रचना व समीक्षा दोनों ही स्तरों पर एक सर्वथा विदेशी विचारधारा का आख्यान शुरू हुआ । यह कहते समय इस बात को भुलाया नहीं जाना चाहिए कि बाहर से आयातीत होने के बावजूद मार्क्सवादी विचारधारा आज हिंदी रचना और आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक विस्तार पा गयी है । इसलिए कि मार्क्सवाद एक समग्र जीवनदर्शन है जो संसार को मनुष्य के द्वारा और मनुष्य के लिए मानता है । इसीलिए हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी विचार-धारा विकास एक सर्वथा नये सौन्दर्य शास्त्र के रूप में हुआ । इस परंपरा में विचारकों और उनकी स्थापनाओं की चर्चा पिछले अध्याय में विस्तार से की जा चुकी है । यहाँ केवल यह देखा जाना चाहिए कि मार्क्सवादी विचार धारा के भारतीय करण में तथा उसके द्वारा अपने व्यक्तित्व निरूपण में हिंदी आलोचना कहाँ तक सफल हुई है ?

सन् 1934 के आस पास हिंदी रचना और समीक्षा में प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) विचारों को एक सामान्य और संगठित मंच देने का कार्य आरंभ हो चुका था । प्रगतिवादी रचनाकारों और विशेषकर समीक्षकों के आगे सबसे पहला प्रश्न था मार्क्सवादी मानदंडों का भारतीय संस्कृति और भारतीय चरित्र के अनुरूप ढालना । इस क्रम में बहुत संघर्ष चला । संघर्ष का यह क्रम आज भी ब चला आ रहा है । यह संघर्ष था दो स्तरों पर, एक मार्क्सवादी मानदंडों को भारतीय प्रकृति के अनुरूप ढालना, दूसरा इस संदर्भ में अलग अलग लोगों द्वारा अपनाये गये अलग - अलग दृष्टिकोणों का टकराव । कुल मिलाकर इसके कारण हिंदी आलोचना का बहुमुखी विकास ही हुआ ।

मार्क्सवादी समीक्षकों ने हिंदी में अपना प्रस्थान बिंदु आचार्य शुक्ल को ही बनाया । शुक्ल जी का सामंतवाद विरोधी, व्यक्तिवाद विरोधी

और अध्यात्मवाद विरोधी दृष्टिकोण इन्हें सर्वथा अपने अनुरूप लगा । स्वाभाविक था कि राम विलास शर्मा जैसे प्रगतिशील समीक्षक आचार्य शुक्ल से ही अपनी परंपरा का आरंभ करते, उनके शब्दों में हिंदी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व जो उपन्यासकार प्रेमचंद या कवि निराला का । उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृतिका विरोध किया । जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढ़िवाद को स्वीकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नए साहित्य - सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देश भक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया ।"[28]

लेकिन कई प्रगतिवादी समीक्षकों के आगे परंपरा के मूल्यांकन और मार्क्सवाद के भारतीयकरण के सूत्र ऐसे स्पष्ट नहीं रहे, इस कारण एक - एक मान्यता को लेकर उनमें विवाद चलता रहा । इनमें सबसे पहला विवाद चला परंपरा के अस्वीकार या स्वीकार का । इनमें दो तरह के दृष्टिकोण टकरा रहे थे, पहला था पिछली परंपरा को संपूर्णत: नकारने का और दूसरा था पिछली परंपरा के पुनर्मूल्यांकन का । पहले गुट में थे शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव जैसे लेखक और दूसरे में रहे रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, चन्द्रबली सिंह, हंसराय रहबर आदि । शिवदान सिंह चौहान ने सन् 1937 में घोषणा की थी कि "इस छायावाद की धारा ने हिंदी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिमलीग ने पहुंचाया हो ।"[29] सन् 1938 में प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा पत्र में भी यही कहा गया कि समस्त पिछला साहित्य रूप और विषयवस्तु की दृष्टि से निस्तेज हो गया है और उसमें जड़वाद तथा निर्जीव और रुग्ण विचारधारा अपनाती है । इसलिए शिवदानसिंह

चौहान ने अपनी पुस्तक "हिंदी साहित्य के 80 वर्ष में" हिंदी साहित्य का विकास केवल आधुनिक खड़ी बोली के विकास तक सीमित रखा और संपूर्ण मध्यकालीन साहित्य को नकार दिया । इसके विरोध में परंपरा का पुनर्मूल्यांकन करने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी जिसमें प्रमुख थे रामविलास शर्मा । उन्होंने न केवल कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, प्रेमचन्द, शुक्ल, निराला, प्रसाद आदि रचनाकारों का पुनर्मूल्यांकन किया बल्कि प्रगतिशील साहित्य को हिंदी भाषी जाति के सांस्कृतिक स्वत्व से जोड़ा । उन्होंने स्पष्ट लिखा "हिंदी भाषी जनता की एक प्राचीन और गौरवशाली परंपरा है । इस परंपरा पर अभिमान करने में एक तरफ तो भारतीय रूढ़िवाद बाधक होता है जो हर सांस्कृतिक निधि का उपयोग महंतों और जागीर दारों के हित में करना चाहता है । उस सांस्कृतिक निधि के निर्माण में भारत की जनता का कितना हाथ है, इस बात को वह छिपाता है । दूसरी तरफ पश्चिमी पूंजीवाद का नस्ल सिद्धांत है जिसके अनुसार वह निधि हमारे पूर्वजों की रचना नहीं, किसी विश्व व्यापी नस्ल की रचना है जिस पर औरों का अधिकार भले हो, हमारा अधिकार अवश्य नहीं ।"[30]

ऐसा ही द्वन्द्व अन्य प्रश्नों को लेकर भी चलता रहा । इनमें से प्रमुख थे वस्तु और रूप की समस्या, जनवाद और समाजवाद की समस्या, यौन स्वच्छंदतवाद का सवाल, वर्ग संघर्ष, क्रान्ति की अवधारणा, सर्वहारा के प्रति दृष्टिकोण, समाजवादी विचार धारा का सही स्वरूप आदि । एक - एक प्रश्न को लेकर चलने वाले विवाद हिंदी समालोचना में नये अध्याय जोड़ते चले गये । उदाहरणके लिए जहाँ शिवदान सिंह चौहान जैसे लेखक भारत से बाहर विश्व साहित्य की अन्य कृतियों को ही मापदंड बनाना चाहते थे जबकि राहुल सांस्कृत्यायन, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा जैसे लेखक भारतीय

और हिंदी साहित्य की कृतियों की पुन:समीक्षा को आवश्यक मानते थे । मुक्तिबोध ने वस्तु और रूप जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर विस्तार से लिखा उन्होंने "कामायनी एक पुनर्विचार" में कामायनी का समाज शास्त्रीय विवेचन किया और स्वच्छंदता वादी काव्य में छिपे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्वों की पड़ताल की । नारी के प्रति दृष्टिकोण और स्त्री पुरूष के संबंधों की पुनर्व्याख्या भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न था जिसे लेकर ऐसे दो गुटों के बीच संघर्ष हुआ जिनमें से एक गुट मार्क्सवाद को फ्रायडवाद का नया संस्करण बनाना चाहता था और दूसरा गुट मार्क्सवाद के सही क्रान्तिकारी पक्ष का उद्घाटन कर रहा था । यशपाल और रामविलास शर्मा का टकराव इन्हीं दो दृष्टि-कोणों का टकराव था । यशपाल जैसे लेखक स्त्री पुरूष संबंधों में परिवर्तन लाने के बहाने एक नये प्रकार के यौन स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तन कर रहे थे । जिसका विरोध करते हुए हंसराज रहबर ने लिखा कि "नारी भी एक सामाजिक प्राणी है । समाज के साथ उसके अनेक संबंध हैं, उसमें एकयौन संबंध भी है, जो किसी विशेष परिस्थिति में महत्वपूर्ण हो सकता है । लेकिन हरेक परिस्थिति में इसी संबंध को उभारना और उसे ही विशेष महत्व प्रदान करना यथार्थ नहीं, अयथार्थ है झूठ है, नारी केसाथ अन्याय है और यह उसका अपमान है ।"[31]

रामविलास शर्मा ने घोषणा की कि "यशपाल के उपन्यास नारी पराधीनता के सवाल को यथार्थवादी ढंग से छूते ही नहीं हैं ।"

इसी प्रकार वर्ग संघर्ष को साहित्य के अंतर्वस्तु बनाने के सवाल पर भी तीखा विवाद चला । इसमें प्रमुख मुद्दा यह था कि लेखक अपनी युगीन वास्तविकता का तटस्थ दृष्टा होता है या नहीं । शिवदान सिंह चौहान जैसे आलोचक "सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा" के समर्थक थे । जबकि रामविलास शर्मा जैसे लोगों का कहना था "न तो साहित्यकार

स्वभावत: प्रगतिशील होता है न आलोचक। वे प्रगतिशील तभी होते हैं जब वे जनसाधारण का पक्ष लेते हैं।"[32] यहाँ पर यह भी प्रश्न उठाया गया कि क्या साहित्य प्रोपागेंडा या प्रचार है या नहीं। कुल मिलाकर प्रगतिशील या प्रगतिवादी समीक्षा ने साहित्य और समाज के अंत:संबंधों को विश्लेषित करने में बहुत बड़ी भूमिका संपन्न की और हिंदी आलोचना का जनाधार स्पष्ट किया। डा० नामवर सिंह परवर्ती हिंदी आलोचना में प्रतिक्रियावादी रुझानों के खिलाफ निरंतर संघर्ष किया है और मार्क्सवादी आलोचना के सामने जो चुनौतियाँ रही हैं, उनका साहसपूर्वक सामना किया है। जनता के साहित्य की प्राय: यह कहकर आलोचना की जाती है कि उसमें व्यापकता तो होती है, पर गहराई नहींहोती। नामवर जी ने इस प्रसंगमें यह महत्वपूर्ण शंका उपस्थित की है किदेखना यह है कि किसी लेखक में व्यापकता के होते हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं तो वस्तुत: वह गहराई की कमी व्यापकता की कमी तो नहीं है? इसी तरह यदि कोई लेखक संकीर्ण होते हुए भी गहरा मालूम हो तो विचारने की जरूरत है कि कहीं हमारी उस गहराई में ही तो कमी नहीं है?"[33]

हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा को स्थापित करने में तथा उसके निजी व्यक्तित्व निर्माण में डा० रामविलास शर्मा का प्रदेय रेखांकनीय है। उन्होंने दो स्तरों पर कार्य किया। सैद्धांतिक स्तर पर उनका कार्य एक समग्र अंतर्विधावर्ती आलोचना दृष्टि का प्रवर्तन करता है। अर्थात रामविलास शर्मा का अधिकांश कृतित्व मार्क्सवाद की सैद्धांतिक अवधारणा, भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन, हिंदी भाषा और हिंदी भाषी समाज के विशेष संदर्भ में किया गया समाज वैज्ञानिक और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन, हिंदी साहित्य की परंपरा का पुनर्मूल्यांकन और प्रगतिशील आलोचना दृष्टि का निरूपण आदि पक्ष हैं। इन्हीं को पुष्ट करते हुए व्यावहारिक सी समीक्षा के अंतर्गत उन्होंने भारतेन्दु,महावरी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, शुक्ल जी, निराला और तुलसीदास जैसे नये पुराने लेखकों के कृतित्व का विवेचन किया।

हिंदी जाति की अवधारणा, हिंदी में नवजागरण के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारण, भारतीयता और हिंदीजाति की अस्मिता आदि उनकी मौलिक देन है । रामविलास शर्मा ने निराला की जीवनी के रूप में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का समग्र मूल्यांकन कर हिंदी जीवनी और कृतित्व का समग्र मूल्यांकन कर हिंदी जीवनी साहित्य को भी नया आयाम दिया । डा० नामवरसिंह का योगदान भी इस परंपरा को बढ़ाने में प्रमुख है । उन्होंने इतिहास और आलोचना का परस्पर संबंध स्थापित कर हिंदी साहित्य की इतिहास चेतना के साथ जोड़ा । नामवर जी ने "कविता के नये प्रतिमान दिये " और अनुभूति व अभिव्यक्ति के सावयविक संबंध का उद्घाटन किया । मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन, धूमिल और नये समकालीन कवि के महत्व का अंकन करने में नामवर सिंह का विशेष योगदान है । नामवर जी की सबसे बड़ी विशेषता है समकालीन रचनाओं को उनके सही संदर्भ में पहचानने की । कहानी विषयक उनकी आलोचनाओं में "नयी कहानी" नाम से एक नये आन्दोलन को ही जन्म दे दिया । इस क्रम में कहानी के आलोचना शास्त्र का विकास हुआ जो कि इससे पूर्व कमजोर था ।

हिंदी आलोचना के विकास में कुछ ऐसी गतिविधाओं ने प्रमुख भूमिका संपन्न की जिनका पहले प्राय: नहीं के बराबर अस्तित्व था । ये विधाये रही - उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रावृत्त और निबंध । इनमें उपन्यास का उल्लेख विशेषरूप से किया जाना चाहिए क्योंकि उपन्यास को आधुनिक युग में महाकाव्य की स्थानापन्न विधा माना गया है । अर्थात जिस तरह प्राचीन व मध्ययुग में महाकाव्य जीवन की समग्रता को चित्रित करता था उसी तरह आधुनिक युग में उपन्यास, जीवन के केन्द्रीय प्रश्नों को उठाता है । उपन्यास का संबंध यथार्थवाद के साथ उसी तरह जोड़ा जाता है जिस तरह प्राचीन युग में

महाकाव्य के साथ आदर्शवाद का जोड़ा जाता था । इसीलिए इसे हीगल ने मध्यवर्ग का महाकाव्य कहा था और मार्क्सवादी समीक्षक लूकाच ने बूर्जुवा - एपिक का नाम दिया था । उपन्यास का आरंभ भारतेन्दु युग से हुआ और इसी के साथ उपन्यास की आलोचना का भीसूत्रपात हुआ । भारतेन्दु युग में लिखे जाने वाली उपन्यासों की समीक्षाएं भी प्रकाशित होती थीं और उनमें उपन्यास के गुण - दोषों का विस्तृत विवेचन हुआ करता था । द्विवेदी युग में चलकर उपन्यास - समीक्षा ने अधिक व्यवस्थित रूप ग्रहण किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1911 में लिखा था - "उपन्यासों का अधिक प्रकाशित होना हिंदी के उत्थान का शुभ लक्षण है । .... योग्य लेखकों को चाहिए कि उपन्यास रचना को ओछा काम न समझकर अच्छे उपन्यासों से समाज और साहित्य दोनों का कल्याण साधन करें ।" द्विवेदी जी ने उपन्यास रचना की प्रक्रिया का भी निदर्शन किया जैसे उनका कहना था -"उपन्यासों में मनुष्यों के चरित्रों और मनुष्यों के ही कार्यों तथा उनसे संबंध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है । उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है । ध्यान रखा जाना चाहिए कि द्विवेदी जी का समय तिलस्मी और अय्यारी के कल्पना प्रधान उपन्यासों का समय था और ऐसे में वे मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास लेखन का आग्रह कर रहे थे ।आगे चलकर प्रेमचन्द ने स्वयं उपन्यास लेखन के साथ एक नया उद्देश्य जोड़कर हिंदी उपन्यासों की दिशा ही बदल दी । वह उद्देश्य था " मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूँ ।"शुक्ल जी ने उपन्यासों पर भी समुचित विचार किया और प्रेमचन्द के उपन्यासों के सामाजिक यथार्थवादी पक्ष की प्रशंसा की । आगे चलकर हिंदी उपन्यासों की आलोचना का एक स्वतंत्र शास्त्र ही विकसित हो गया । इसी प्रकार नाटकों को लेकर समीक्षा भारतेन्दु युग से ही आरंभ हो गयी थी । भारतेन्दु ने हिंदी नाटक लेखन और रंगमंच दोनों को प्रचुर योगदान दिया था । उन्होंने प्राचीन परंपरा का पिष्टपेषण करने के बजाय हिंदी नाटक के स्वतंत्र

व्यक्तित्व विकास पर बल दिया । उनका कहना था कि "अब नाटक में कहीं "आशी:", प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं "प्रकरी", कहीं "विलोमन", कहीं "संफेट", कहीं "पंचसंधि", व ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही । संस्कृत नाटक की भांति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना, व किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है । क्योंकि आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है ।"

भारतेन्दु युगीन नाट्य चिन्तन में नाटक और अभिनय को एक मानकर चला गया तदुपरांत द्विवेदी युगमें भी नाटक को लेकर इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया । द्विवेदी जी का कहना था "समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और दृश्यों का जैसा अच्छा चित्र अभिनय द्वारा दिखाया जा सकता है वैसा अच्छा और किसी तरह का नहीं ।" आगे चलकर हिंदी नाट्य समीक्षा के स्वतंत्र विकास में हिंदी आलोचना का अपना व्यक्तित्व दिखायी देता है ।

हिंदी आलोचना के तत्त्व निरूपण के क्रम में एक बात का ध्यान और रखा जाना चाहिए और वह है अन्य शास्त्रों या विज्ञानों के साथ आलोचना का संबंध । भारतेन्दु युग से ही साहित्य का उद्देश्य बदलना शुरू हो गया था । अब साहित्य को मात्र मनोरंजनापरक या एकांग साधना की वस्तु न मानकर उसे सामाजिक यथार्थवाद से जोड़ा जाने लगा था । साहित्य के अध्ययन के लिए काव्यशास्त्र के साथ - साथ द्विवेदी युग में व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक माना जाने लगा । द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा के व्याकरणिक रूप को साहित्य रचना के लिए आवश्यक माना था । धीरे-धीरे साहित्य का अन्य विज्ञानों से संबंध जुड़ने लगा। पीछे बताया जा चुका है कि द्विवेदी जी ने विशेषकर उपन्यास लेखकों के लिए मनोविज्ञान के ज्ञान पर बल दिया था । शुक्ल जी ने रचनाकार के लिए जीवन की व्यापक भूमि

का ज्ञान आवश्यक माना । इस व्यापक भूमि में अलग-अलग पक्षों का निर्देश नहीं किया गया है किन्तु इतना स्पष्ट है कि जीवन के समग्र रूप का यथार्थ ज्ञान भी रचनाकार और आलोचक को सार्थक बनाता है । हिंदी आलोचना के क्षेत्र में सन् 60 के आस पास अंतर्विधावर्ती [Inter discip-linary] आलोचना पद्धतियों का विकास हुआ जिसके अंतर्गत मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय, राजनैतिक, दार्शनिक, सौंदर्यशास्त्रीय, भाषा वैज्ञानिक और शैली वैज्ञानिक पद्धतियों में साहित्यलोचन के लिए अन्य शास्त्रों का ज्ञान अपरिहार्य बन गया । विशेषकर रूपवादी शैलीवैज्ञानिक और संरचनावादी आलोचना पद्धतियों में रचना की । जाँच पड़ताल साहित्येतर शास्त्रों के आधार पर उसी वैज्ञानिक तटस्थता के साथ की जाती है जैसा कि सामाजिक या प्राकृतिक विज्ञानों में होता है । संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि हिंदी आलोचना के सत्व निरूपण में इन तीनों आयामों का ध्यान रखा जाना चाहिए । ये तीन आयाम हैं - [1] संस्कृत व पाश्चात्य प्रभाव स्त्रोतों से जुड़कर भी अलग होने की प्रक्रिया [2] गद्य विधाओं विशेषकर उपन्यास, और नाटक के समीक्षा सिद्धांत, और [3] अंतर्विधावर्ती अध्ययन पद्धतियों का विकास ।

1· काव्य में रसवाद – पृ· 74

2· चिंतामणि, प्रथम भाग – पृ· 156

3· -वही- पृ· 157-158

4· -वही- पृ· 53

5· -वही- पृ· 141

6· चिंतामणि , द्वितीय भाग, पृ· 129

7· चिन्तामणि (प्रथम भाग) पृ· 253, "रसात्मक बोध के विविध रूप" शीर्षक के अंतर्गत·

8· --वही- – पृ· 251

9· -वही- पृ· 241

10· गोस्वामी, तुलसीदास – पृ· 74-75

11· चिंतामणि – प्रथम भाग , पृ· 230

12· -वही- पृ· 238

13· -वही-, द्वितीय भाग, पृ· 111

14· -वही- – पृ· 206

15· रस मीमांसा – पृ· 265

16· हिंदी साहित्य का इतिहास – पृ· 428

17· चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ· 102

18· -वही- पृ· 181

19· "सरस्वती" में प्रकाशित भारत भारती रचना – पृ· 522

20. हिंदी साहित्य का इतिहास - पृ. 391
21. चिंतामणि - द्वितीय भाग, पृ. 103
22. विचार और वितर्क - पृ. 198
23. -वही- पृ. 93
24. विचार प्रवाह - पृ. 129
25. साहित्य - सहचर - पृ. 46
26. विचार और वितर्क - पृ. 231
27. विचार प्रवाह - पृ. 165-166
28. आचार्य शुक्ल और हिंदी आलोचना, भूमिका - पृ. 7
29. विशाल भारत - मार्च - 57 अंक
30. प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें - पृ. 25
31. प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन - पृ. 212
32. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं - पृ. 4
33. इतिहास और आलोचना - पृ. 13
34. साहित्यालाप - पृ. 55-56
35. साहित्य संदर्भ - पृ. 162
36. साहित्याश्वाला - पृ. 54 - 55

अध्याय - 7

आधुनिक तेलुगु आलोचना का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में

अध्याय - 7

आधुनिक तेलुगु आलोचना का सत्व : सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में

पिछले तृतीय एवं पंचम अध्यायों (तीन और पांच) में विवेचित सिद्धांतों और वादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेलुगु आलोचना के उद्भव और विकास पर भारतीय (संस्कृत) काव्य शास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आलोचना के सिद्धांतों का अत्यधिक प्रभाव रहा है । यह प्रभाव अधिक होने के कारण इस धारणा को प्रबलता मिली है कि तेलुगु आलोचना की अपनी एक अलग पहचान अभी बनना शेष है । क्योंकि तेलुगु साहित्य में प्राचीन आलोचना केवल भारतीय आचार्यों के सिद्धांतों का ही अनुसरण करती रही और आधुनिक आलोचना पूर्णत: पाश्चात्य वादों के सहारे ही बनी रही । इस प्रश्न पर विचार करने हेतु प्रस्तुत अध्याय में विवेच्य विषय के रूप में तेलुगु आलोचना के सत्व के बारे में विचार करना अति अनिवार्य है।अतः भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का प्रभाव लेते हुए तेलुगु आलोचना के निजी पहचान व अस्तित्व के संबंध में विचार किया जाए ।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में 20वीं शती के पूर्वार्द्ध में कई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनमें से अति महत्वपूर्ण है मुद्रण मशीनों का आविष्कार

एवं प्रकाशन की सुविधा । यह तेलुगु साहित्य के लिए अंग्रजों की बड़ी देन है । इससे तेलुगु का साहित्य जो अब तक ताड़-पत्रों तक सीमित था वह कागजों पर प्रकाशित होने से उसकी सीमा व्यापक हो गयी । चेतना के स्तर पर परिवर्तन इस प्रकार घटित हुआ तेलुगु में गतिविधावों, विशेषकर उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, जीवनी, संस्मरण, यात्रावृत्त, कोश-विज्ञान और अनुवाद कला का विकास हुआ । इसी क्रम में तेलुगु समालोचना ने भी नया रूप धारण किया । तेलुगु में साहित्यिक समालोचना के साथ अन्य शास्त्रों का संयोग भी तेलुगु आलोचना के सत्व निरूपण में सहायक-वृत्ति रही ।

तेलुगु साहित्य एवं समालोचना की प्रमुख प्रवृत्ति है परंपरा के साथ प्रयोग का समन्वय । यह एक तरह से आन्ध्र-चरित्र की विशेषता है कि यहां परंपरा से पूर्णतया विच्छेद कभी स्वीकार नहीं किया गया । नवीनता को अपनाया गया किन्तु परंपरा के विस्तार के रूप में ही । जहां ऐसा नहीं हुआ वहां उस प्रवृत्ति को समुचितादर नहीं मिल सका । उदाहरण के लिए आलोचक श्री मुक्कुराल राम रेड्डी परंपरा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, परंपरा का अर्थ केवल पुरानी नहीं । अनादिकाल से आज तक जो चली आ रही है - यही परंपरा का मुख्यार्थ और मुख्य भाव है । अनादि काल से आज तक का यही अटूटक्रम तेलुगु साहित्य - सामालोचना के सत्व को इसी परिदृश्य में देखा जाना चाहिए ।

जैसा कि पहले विवेचित किया जा चुका है कि तेलुगु आलोचना संस्कृत के काव्य शास्त्रीय प्रतिमानों के अनुवाद और अनुकरण के क्रम में विकसित हुई । इसीलिए तेलुगु आलोचना का पहला दौर संस्कृत के अमर ग्रंथों के तेलुगु अनुवाद का रहा है । इसके साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के भी मानक

ग्रंथों का अनुवाद किया गया । यह तेलुगु जाति की परंपरा प्रियता का लक्षण है । इसके साथ दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति द्रष्टव्य है कि तेलुगु में प्राचीन काल से लेकर आजतक के रचनाकारों ने रचना के साथ - साथ रचना के मानदंडों अर्थात आलोचना पर भी ध्यान दिया । उदाहरण के लिए तेलुगु के आदि कवित्रय नन्नया, तिक्कना, एरीप्रेगडा ने अपने काव्य के प्राक्कथन में कविता की सामान्य लक्षणों के साथ - साथ अपनी काव्य रचना की । सामान्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला । यह परंपरा आज तक चली आ रही है । उदाहरण के लिए आधुनिककवि एवं गद्यकार श्री विश्वनाथ सत्यनारायण "श्रीमद्रामायण कल्प वृक्षम में कथा कहने की विभिन्न रीतियों पर प्रकाश डाला है । तो मार्क्सवादी कवि श्री श्री ने कविता के लक्षणों पर ही नहीं कविता की विषय वस्तु पर भी विस्तृत से लिखा है । तेलुगु समीक्षा के अपने आरंभिक विकास के लिए संस्कृत और पाश्चात्य स्त्रोतों की ऋणी है । संस्कृत काव्यशास्त्र से जुड़े आदि कवि नन्नया से लेकर आधुनिक समीक्षक जी·वी· सुब्रह्मण्यम तक दिखायी देता है । इस परंपरा में संस्कृत काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों का पुनर्विवेचन किया गया ।'

तेलुगु साहित्य में कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी जी के बाद श्री नोरि नरसिंह शास्त्री जी प्राचीन लक्षण ग्रंथों की आलोचना की और उसके साथ पाश्चात्य आलोचना की भी तुलनात्मक व्याख्या की । उसके मतानुसार रस सिद्धांत में उल्लिखित सभी रस कवि की रस निष्पत्ति में किस प्रकार सहायता करते हैं और वे सामान्य प्राणी को किस प्रकार रस - अनुभूतिदिलाते हैं । आलोचना में यह देखना आवश्यक है ।[1] पाश्चात्य काव्य शास्त्र का सिद्धांत "आर्ट ईज फार आर्ट सेक" (कला कला के लिए) का विरोध करते हुए शास्त्री जी कहते हैं किअपने प्राचीन आचार्यों का अनुसरण करते हुए हमें यह समझना चाहिए कि साहित्य का उद्देश्य पाठकोंमें रसानंद पैदा करना ही है ।[2] नोरि नरसिंह शास्त्री जी को "अभिनव प्राचीनवादी" अर्थात

"अभिनव अभिजात्यवादी" {नियो क्लासिस्ट} समीक्षक कहा जाता है, क्योंकि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इस वाद की जो मान्यताएं हैं वे शास्त्री की आलोचना में भी स्पष्ट होती हैं। तेलुगु साहित्य में काल्पनिक वाद और अभिनव प्राचीनवाद दोनों का विकास एक साथ हुआ। अत: इस समय को प्राचीन और नवीन का संधि काल भी कह सकते हैं। एक ओर काल्पनिक वाद के समर्थक रायप्रोलु सुब्बाराव और देवुलपल्लि कृष्णाशास्त्री थे तो दूसरी ओर अभिनव प्राचीन वाद {नियो क्लासिज्म} के समर्थक उमाकांतम, पानुगंटि और नोरि नरसिंह शास्त्री जी थे। शास्त्री जी संस्कृत सिद्धांतों और आधुनिक पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय कर भारतीय काव्य शास्त्रों को ही प्रमाण मानकर आलोचना का विकास किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शास्त्री जी प्राचीन संप्रदायों और प्राचीन कवियों के अभिमानी है और उन संप्रदायों का विकास करना भी वे अपना आदर्श मानते हैं। शास्त्री जी ने काल्पनिक वाद की विश्रृंखलता का विरोध किया और उन्होंने स्पष्ट किया कि नियोक्लसिकल युग चेतना को तेलुगु की आलोचना में ले आना आवश्यक है। श्री शास्त्री जी ने समकालीन साहित्यिक युग में व्याप्त अनुवाद प्रक्रियाओं और अनूदित ग्रंथों को हर्ष पूर्वक स्वीकार नहीं किया। आधुनिक काल में आलोचक डा० जी·वी· सुब्रह्मण्यम जी का ग्रंथ "रसोल्लासमु" रस विषयक पारंपरिक मान्यताओं का कई जगह खंडन करता है और नयी स्थापनाएं स्थापित करता है और "रसानांरस:" नामक अपने लेख के अंतर्गत डा० सुब्रह्मण्यम जी "वीर" को ही रसानांरस: कहते हैं। वे वीर धर्म का मूल स्त्रोत मानते हैं और धर्म ही वीर का मूल स्वरूप है। अत: धर्मवीर ही वीर रस है। इसके स्पष्टीकरण में वे कहते है कि धर्मवीर रस रसों के लिए मूल रस है, रसों में व्यापक रस है और रसों का रस है। रस स्थिति के लिए प्रेरणादायक रस यही हैं अत: "धर्मवरीर येव रसानां रस:" कहते है।[3] वे रामायण में अंगीरस को धर्मवीर रस ही मानते हैं और महाभारत में भी इसी रस को मानते हैं।

इनका कहना है कि रामायण में रावण का संहार लोकहित में धर्म ही है । राम जगत का धर्मसाधक है, उनकी कथा में जो रस है वह धर्मवीर रस है । इसी प्रकार महाभारत में वे शांत रस को उत्तम नहीं मानकर धर्मवीर को ही मानते है । दूसरी ओर श्री सी·नारायण रेड्डी अपने प्रसिद्ध शोध ग्रंथ आधुनिकान्ध्र कवित्वमु - संप्रदायमु - प्रयोगमु" में संप्रदाय अर्थात परंपरा पर विचार करते हुए लिखा है कि परंपरा एक अनल्प निश्चय को व्यक्त करती है ।(पृ· सं0 4) आगे इलियट के परंपरा विषयक विचारों को उद्धृत करते हुए उन्होंने भारतीय संस्कृति के आधार भूत सिद्धांतों तथा काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के आलोक में तेलुगु कविता का विवेचन किया है । इसी के साथ प्रयोग पक्ष केअंतर्गत उन्होंने पारंपरिक प्रयोगों तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय प्रभावों के अंतर्गत किये गये प्रयोगों का आकलन किया है । यह भी परंपरा का आधुनिक विस्तार - धर्मी दृष्टिकोण ही है । श्री जी·वी·सुब्रमण्यम ने तेलुगु आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव का विवेचन करते हुए तेलुगु आलोचना के आधुनिक मानदंडों का समाकलन किया । उनसे पूर्व यह कार्य श्री कोत्तपल्लि वीरभद्रराव कर चुके है ।[4] तेलुगु में पाश्चात्य समीक्षा पद्धति को सबसे पहले डा·सी·आर· रेड्डी ने अंगीकार किया था । उन्होंने अपनी पुस्तक "कवित्व तत्व विचार" में तेलुगु प्रबंध काव्यों के दोषों का निदर्शन किया । श्री कालूरि व्यासमूर्ति ने कवित्व तत्व विचार विमर्श नाम से लिखीगयी अपनी पुस्तक में डा0 सी·आर रेड्डी के विचारों का खंडन किया । उन्हीं के निबंध संग्रह "कविकोकिल ग्रंथावली" में पाश्चात्य पद्धति पर लिखे गये निबंध संकलित हैं । बुच्चिबाबू ने शेक्सपियर की वृत्त्तियां की तेलुगु में समीक्षा की । तेलुगु आलोचकों में विशेषकर ऐसे लोगों का योगदान उल्लेखनीय है जिन्होंने पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा पद्धतियों के प्रासंगिक मानदंडों को लेकर अपना मूल्यांकन

प्रस्तुत करते हैं । इनमें प्रमुख हैं कोत्तपल्लि वीर भद्रराव, जी॰वी॰ सुब्रह्मण्यम श्री नारायणरेड्डी आदि ।

हिंदी की तरह तेलुगु में भी कुछ नये काव्यांदलोनों ने रचना के साथ - साथ आलोचना के मानदंडों में भी अभूतपूर्व विकास किया, इनमें से प्रमुख हैं भावकवित्व {छायावाद} अभ्युदय कवित्मु {मार्क्सवाद} और वचन कविता {मुक्त छंद} तथा विप्लव कवित्पमु {प्रगतिवाद} । इन आन्दोलनों के पक्ष और विपक्ष में लिखे गये निबंधों के कारण तेलुगु समालोचना का तत्व निरूपण होता चला गया । उदाहरण के लिए जब तेलुगु में भाव कवित्मु का प्रवेश हुआ तो इसकी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को देखते हुए परंपरावादी विद्वानों ने इसका विरोध किया । श्री ए॰उमाकांत विधाशेखर ने "नेटिकालमु कवित्मु" {आज की कविता} में इस प्रकार की कविता में पुनरावृत्ति और अस्पष्टता और व्याकरण की भूलें बताते हुए उसकी कटु आलोचना की । भावकवित्वमु के प्रशंसक आलोचक में देवुलपल्लि कृष्णाशास्त्रि, वेदुलु, नायनी, अब्बूरि आदि । इनमें देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्रि हिंदी कवि - आलोचक सुमित्रानंदन पंत की तरह भाव कवित्मु के रचनाकार और प्रबल प्रवक्ता थे । उन्होंने अपने निबंध "कृष्ण पक्षमु" में पारंपरिक कविता के कृष्ण पक्ष का निदर्शन करते हुए उस पर वैसा ही प्रबल प्रहार किया जैसा कि पंत जी ने अपने "पल्लव" की भूमिका में ब्रज भाषा पर किया था । इसके उत्तर में ए रामलिंग स्वामि ने शुक्ल पक्षमु नाम से व्यंग्य कविताओं का संग्रह प्रकाशित किया और भाव कवित्वमु की यह कहकर निंदा की कि यह अर्थहीन शब्द राशि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसका जवाब भोजराजु, पी॰लक्ष्मीनारायण आदि ने दिया ।

सन् 1935 के बाद से न सिर्फ तेलुगु कविता में बल्कि समीक्षा में भी हमें प्रगतिशील और क्रांतिकारी विचार और प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं । अधिकांश प्रगतिशील समीक्षकों और लेखकों पर मार्क्स का प्रभाव था ।

वे लोग साम्राज्यवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध थे, अतीत के गौरव के प्रति उन्हें कोई आसक्ति नहीं थी, उन्होंने श्रमिकों और कार्मिकों में एक प्रकार कीक्रांति पैदा की, उन वीरों को शौर्यगीत गाये जिन्होंने पूंजी वादियों के अत्याचारों के विरुद्ध लड़ते हुए अपने प्राणों की बलि दी । इन कवियों ने वर्ग, जाति और धर्म सेमुक्त समाजवादी समाज की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया । इस वर्ग के कवि साहित्य को दकियानूसी साहित्यकारों के पंजों से मुक्त कराके कला को जनता के निकट संपर्क में लाने को उत्सुक थे । एक प्रगतिशील कवि न अपने बारे में कहा है "मैं कवि हूं उनका जो दिन भर पीतल कूट उसे रूप देते हैं और मैं कवि हूं उन मजदूरों का जो दिन भर सिर पर डलिया ढोते हैं, यानी मैं कवि हूं निम्न वर्ग के लोगों का ।" उनका कहना था कि अभिजात और परंपरागत साहित्य में साधारण लोगों को ऊपर उठाने की कोई क्षमता नहीं होती क्योंकि उसमें पुराने घिसे पिटे विचार मात्र होते हैं । उनका यह भीमत था कि जटिल एवं आलंकारिक भाषा तथा छंदों की दुरूहता भावों की सहज अभिव्यक्ति में बाधक होती है । लेकिन इस वर्ग में भी कुछ ऐसे लोग थे जो अलंकृत शैली और अत्यानुप्रास के समर्थक थे । श्री श्री, नारायण बाबू आदि ने न केवल प्रगतिशील काव्य की रचना ही नहीं की अपितु प्रगतिशील विचारों के प्रसार और प्रोत्साहन के लिए निबंध भी लिखें ।

प्रगतिशील काव्य के अग्रज कवि श्री श्री ने ।९५१ में गुरजाड पर एक निबंध लिखा और उनकी रचनाओं के प्रगतिशील तत्वों पर प्रकाश डाला । श्री क॰वी॰रमणा रेड्डी ने गुरजाड के विषय में "गुरजाड वेलुगुजु" तथा "महोदयम" नाम की दो पुस्तकें और "कविकोकिल" नाम से दुव्वूरि रामि-रेड्डी के काव्य पर एक पुस्तक प्रकाशित की । उन्होंने "किन्नरे" पत्रिका में भी कुछ निबंध लिखे । अपने श्री श्री कविता प्रस्थान" में श्री अड्डिपल्लि राममोहन राव ने श्री श्री रचित "महाप्रस्थान" के काव्य - सौंदर्य और उसमें

निहित प्रगतिशील विचारों पर सुंदर प्रकाश डाला है । "मुक्त छंद मोर्चा" की ओर से श्री कुन्दुर्ति और गोपाल चक्रवर्ती" ने "वचन कविता" का संपादन किया, जिसमें रमण रेड्डी, गोपालकृष्ण मूर्ति, संपत्तकुमार, सुप्रसन्न, मोहन प्रसाद, वरवरराव और सोमसुंदर जैसे समीक्षकों और कवियों के निबंध प्रकाशित हुए । इन निबंधों का प्रमुख विषय है - प्रगतिशील विचारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद की उपयुक्तता वरंगल से प्रकाशित साप्ताहिक "जनधर्म" ने डा० सुप्रसन्न के संपादकत्व में एक परिशिष्ट प्रकाशित किया, जिसमें स्वतंत्रता के बाद की तेलुगु कविता के विषय में बहुत से लेखकों ने अपने विचार व्यक्तकिये । श्री आर॰एस॰ सुदर्शन ने अपनी पुस्तक "साहित्य-मुलो धृक्पथालु" में पेद्दना, गुरजाड, विश्वनाथ, गोपीचंद और चलम की कृतियों का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है ।

विचारों में प्रगतिशील होते हुए भी इन लेखकों ने परंपरागत मूल्यों को पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया है । श्री कोडवटि गंटि कुटुंबराव की "साहित्य प्रयोजनम" में उनके मार्क्सवादी और मानवतावादी विचारों का परिचय मिलता है । डा० सुप्रसन्न को "साहित्य विवेचन" पर आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है और इसे 1972 का सर्वश्रेष्ठ समीक्षा ग्रंथ माना गया है । श्री गोरीपति वेंकटसुब्बय्या की पुस्तक "चलम" और "अक्षराभिषेकम्", डॉ राजाराव की "लाइफ आफ गोपीचंद और एन॰ गुरुप्रसाद राव द्वारा "आन्ध्र पत्रिका" के वार्षिक अंकों में प्रकाशित लेखों में प्रगतिशील प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं । श्री सोमसुंदर कृत गुरजाड एवं श्री श्री की समीक्षा के अभ्युदय साहित्य मित्रुलु द्वारा दिये गये उत्तर "विशालान्ध्र प्रकाशन" से प्रकाशित हुए हैं । श्री पोतलपल्लि सीताराम राव ने "भारती" और "जयंती" में प्रकाशित अपने लेखों में गुरजाड की तीव्र आलोचना की है ।

विद्रोही युवा वर्ग के कतिपय लेखकों की सद्यः प्रकाशित समीक्षात्मक कृतियों में क्रांतिकारी विचारों का परिचय मिलता है । वे परंपरागत तथा

प्राचीन रचनाओं को न केवल अस्वीकार करते हैं वरन उनकी तीव्र भर्त्सना भी करते हैं । उनकी राय में वर्तमान व्यवस्था से प्रत्येक क्षेत्र में इतनी हानि हो रही है कि इसे पूर्णतः समाप्त कर देना चाहिए । उन्हें पूरी आशा है कि इसके विनाश के पश्चात एक नये जीवन का आविर्भाव होगा । वे भाषा के प्रयोग तथा विचारों की अभिव्यक्ति में जरूरत से ज्यादा छूट लेते हैं । उन्हें आध्यात्मिकता में तनिक भी विश्वास नहीं, वे सिर्फ भौतिक मूल्यों का महत्व देते हैं । हैदराबाद की "सेवन स्टार्स सिण्डीकेट" ने मुक्त छंद पर कुछ समीक्षात्मक निबंध तथा समीक्षाएं प्रकाशित की हैं । चलम तथा श्री कालोजी के साहित्य के विषय में श्री आर॰सुदर्शनम के विचारों की कड़ुपा के श्री राचमल्लु रामचन्द्र रेड्डी ने आलोचना की है । वे अध्यात्मकवाद के पूर्णतः विरोधी है तथा उनका दृष्टिकोण एकांत भौतिकवादी है । वरंगल से प्रकाशित मासिक पत्रिका "सृजन" क्रांतिकारी लेखन के प्रति पूर्णतः समर्पित है तथा उसमें वचन कविता पर अनेक समीक्षात्मक निबंध प्रकाशित हुए हैं । श्री सोमसुंदर द्वारा संपादित "कलाकेलि" तथा श्री के॰शिवारेड्डी द्वारा संपादित "वेकुव" में आधुनिक काव्य की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों पर अनेक निबंध संकलित हैं । कुछ लेखकों ने क्रांतिकारी लेखन की आलोचना भी की है, इस संदर्भ में "तरुण" में "दिगंबर कविता" पर भी पी॰एस॰आर॰ आंजनेय शास्त्री का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

तेलुगु आलोचन के निजी व्यक्तित्व के विकास में दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है गद्य की विभिन्न विधाओं की परिप्रेक्ष्य में आलोचना का विकास । हिंदी के समान तेलुगु में भी भाषा और साहित्य के इतिहास के प्रति चेतना आधुनिक युग की ही देन है । हिंदी में जिस प्रकार खड़ी बोली आन्दोलन के क्रम में भाषागत चिंतन हुआ, उसी प्रकार तेलुगु में भी ग्रांथिक और व्यावहारिक भाषा प्रयोग के पक्ष को लेकर जो कुछ भी लिखा गया वह तेलुगु आलोचना के

विकास में सहायक सिद्ध हुआ । तेलुगु में भी आधुनिक और वैज्ञानिक चेतना के फल स्वरूप इतिहास बोध का विकास हुआ । जिसका प्रमाण तेलुगु भाषा और साहित्य का इतिहास है । इस ऐतिहासिक चेतना का परिचय देते हुए वीरेशलिंगम पंतुलु ने कवियों की जवनी लिखी । निरंतर अनुसंधान कर उपलब्ध पुलेखों एवं अन्य साधनों की सहायता से उन्होंने बहुत से कवियों की जीवनियां निश्चित की, उनकी कृतियों का क्रम निर्धारित किया और प्राचीन मध्यकालीन तथा आधुनिक कवियों पर क्रमशः तीन पुस्तकें प्रकाशित की । अपनी प्रामाणिकता के कारण ये ग्रंथ तेलुगु की परवर्ती समीक्षा के लिए मूलाधार बने । जीवनी लेखन, इतिहास लेखन और प्राचीन ग्रंथों की टीकाओं की लंबी परंपरा तेलुगु आलोचना की अस्मिता बनाने के लिए पर्याप्त है । तेलुगु साहित्य के विभिन्न इतिहासों ने सामग्री संकलन, काल विभाजन और साहित्यिक विवेचन की दृष्टि से कई उल्लेखनीय ग्रंथ लिखे गये ।

कवियों की जीवनी, साहित्य और भाषा का इतिहास इन पर भव तेलुगु आलोचना में मान्यतायें स्थापित की गई हैं, स्वर्गीय चागंटि शेषय्या ने "आन्ध्र कवि - तरंगिणि" के नाम से बारह खण्डों में तेलुगु कवियों की जीवनियां प्रकाशित की । यह भी वीरेशलिंगम पंतुलु की कृति की तरह कवियों की जीवनियों पर लिखी गई पुस्तक है, किन्तु इसमें तेलुगु कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन नहीं किया गया है । लेकिन ऐसी बहुत सी तेलुगु कविताओं को प्रकाश में लाकर, जो ताड़ - पत्रों पर पाण्डुलिपि के रूप में ही पड़ी थी और उनके लेखकों के विषय में लिखकर तथा उनका काल - निर्धारण करके उन्होंने तेलुगु साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है । "कवि-तरंगिणि" के दूसरे खण्ड में भी इन्होंने कवियों की जीवनियों की समीक्षा की है । इस संदर्भ में श्री बुलुस वेंकटरमणय्या, कृत "आन्ध्र कवि सप्तशती" का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें उन्होंने तेलुगु के सात सौ कवियों

और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण दिया है । श्री मधुनापंतुलु सत्यनारायण शास्त्री ने "आन्ध्र रचयितलु" शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने 1850 से 1950 के बीच के कवियों और विद्वानों का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है । इसी प्रकार श्री टेकुमल्ला कामेश्वर राव ने "ना - वाङ्मय मित्रुलु" नाम से एक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने बहुत से आधुनिक कवियों और विद्वानों की जीवनियां और उनके काव्य-कौशल का वर्णन किया है ।

तेलुगु साहित्य के इतिहासों में सर्वप्रथम इतिहास "आन्ध्र वाङ्मय चरित्र" है, जिसके रचयिता कल्लूरि वेंकटनारायण राव "कवित्ववेदी" हैं । इसमें नन्नय्या पूर्वकाल से आधुनिक काल तक तेलुगु - साहित्य की प्रवृत्ति का तथा आन्ध्र प्रदेश में समय - समय पर घटित राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है । इसी लेखक की एक अन्य पुस्तक में दक्षिणान्ध्र युग के तेलुगु साहित्य की चर्चा है । स्वर्गीय टेकुमल्ल अच्युत राव ने विजयनगर साम्राज्य के अंतर्गत तेलुगु साहित्य का इतिहास दो खण्डों में प्रकाशित कराया । इसमें उन्होंने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना स लेकर पन्द्रवी शताब्दी के प्राय: अंत तक रचित सभी तेलुगु काव्यों का पूर्ण विवरण दिया है । उन्होंने इन कवियों के काव्य चरित्र - चित्रण तथा अन्य साहित्यिक पक्षों का जो समीक्षात्मक मूल्यांकन किया है वह पर्याप्त प्रशंसनीय है । श्री निडदवोलु वेंकटराव ने तेलुगु साहित्य के इतिहास में पुराण काल के कवियों की चर्चा की है और तेलुगु साहित्य के दक्षिणान्ध्र युगकी समीक्षा भी की है । आदिकाल से प्रबंध युग तक के तेलुगु साहित्य का इतिहास पिसे शिष्ट रामकृष्ण शास्त्री ने लिखा है, मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है । श्री आरुद्र ने "समग्र आन्ध्र साहित्य चरित्र" नाम से तेलुगु साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास लिखा है, जिसमें

न केवल कवियों की जीवनियों और जीवनकाल की चर्चा की है बल्कि उनकी कविताओं का समीक्षात्मक मूल्यांकन भी किया है । इसमें आरुद्र ने जिस मौलिकता, शोध - वृत्ति और अध्यवसाय का परिचय दिया है वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है । प्रोफेसर के॰लक्ष्मीरंजनम कृत "आन्ध्र साहित्य चरित्र संग्रह" में आठारहवी शताब्दी के अंत तक के तेलुगु साहित्य का संक्षिप्त विवरण दिया गया है । इनके अलावा डा० दिवाकरल वेंकटावधानी कृत, "आंध्र वाङ्मय चरित्र", स्वर्गीय पी॰वी॰हनुमंत राव कृत "नव्यांध्र - साहित्य वीधुलु", श्रीमती के॰सत्यवती कृत "तंजावर आन्ध्र कवुल चरित्र", श्रीवास्तव कृत उष:किरणालु", आदि भी उल्लेखनीय हैं । तेलुगु साहित्य में ऐसे कई मौलिक इतिहास लिखे गये है जिनमें तेलुगु के प्रारंभिक काल से अद्यतन काल के तेलुगु गद्य साहित्य का समीक्षात्मक विवरण देने का प्रयास किया गया है ।

तेलुगु भाषा के इतिहास ग्रंथों में डा० सी॰नारायण रेड्डी कृत "आन्ध्र भाषा चरित्र" और प्रोफेसर जी॰जे॰सोमयाजी कृत "आन्ध्र भाषा विकासमु" ग्रंथ प्रमुख है । तेलुगु - भाषा के उद्भव के विषय में ये दोनों ग्रंथ दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते है । डा० सी॰नारायण रेड्डी के मतानुसार तेलुगु संस्कृत और प्राकृत से उद्भव हुई है जबकि प्रोफेसर जी॰जे सोमयाजी, डा० कॉल्डवेल से सहमत हैं कि तेलुगु द्रविड परिवार की भाषा है । स्वर्गीय वी॰सीताराम स्वामी शास्त्री ने "द्रविड भाषा परिशीलनम" और "द्रविड़ भाषा साम्यमुलु" की रचना की है, इनमें उन्होंने द्रविड़ सिद्धांत का ही समर्थन किया है । "भाषोत्पत्ति क्रमम्", "संधि और देशि दक्षिण भारत भाषलु" के लेखक स्वर्गीय कोराड रामकृष्णय्या ने तेलुगु भाषा का ही नहीं बल्कि व्याकरण आदि के सम्बन्ध में भी अपने मत स्पष्ट किये हैं । इनके अलावा तेलुगु के विश्वकोशों में भी तेलुगु तथा संस्कृत साहित्य एवं भाषा विषयक अनेक निबंध हैं । आन्ध्र प्रदेश के तीनों विश्वविद्यालयों में अर्थात आन्ध्र, उस्मानिया, श्री वेंकटेश्वर में बहुत से विद्वानों ने तेलुगु

साहित्य तथा भाषा के विभिन्न विषयों पर कार्य किया है और पी•एच•डी की उपाधि के लिये शोध - ग्रंथ लिखे हैं । इन शोध ग्रंथों से तेलुगु समीक्षा की श्रीवृद्धि हुई है । उदाहरण के लिये डा० सी•नारायण रेड्डी कृत सम्प्रदायमु, प्रयोगमु" अर्थात {परम्परा और प्रयोग}, डा० पी•माधव शर्मा कृत, "छंद शिल्पमु", डा० टी कोटेश्वर राव कृत "आमुक्त माल्यदा सौंदर्यमु" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

तेलुगु समीक्षा की मुख्य प्रवृत्तियों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है - परम्परागत, पाश्चात्य, समन्वित और आधुनिक । संस्कृत में साहित्य समीक्षा की एक यशस्वी परम्परा है और भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से पूर्व तेलुगु विद्वान उसी का अनुसरण करते थे । परवर्ती काल में भी परम्परावादी विद्वान उसका सम्मान और उसमें निरूपित सिद्धांतों का अनुसरण करते रहे उन्होंने विवेच्य कृति को परम्परागत समीक्षा के सिद्धांतों की कसौटी पर ही कसा और उन्हीं के आधार पर गुण - दोषों का निरूपण करते हुए यह निर्णय किया कि रचनाकार में परम्परागत सिद्धांतों का पालन करने की कितनी योग्यता है । वे रस - निष्पत्ति, नायक - नायिका भेद, अलंकार प्रयोग, शुद्ध व्याकरण सम्मत शैली तथा काव्य शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों में स्थित छंद शास्त्रीय परिपूर्णता को अत्यधिक महत्व देते थे । इनके पालन में किसी भी प्रकार त्रुटि उनकी दृष्टि में असह्य थी और उसकी वे कटु आलोचना करते थे, "तदल्प-मपि नोपेक्ष्यं काव्ये दोष कथंचन" {अर्थात काव्य के छोटे से छोटे दोष को भी अनदेखा नहीं करना चाहिये} दण्डी की यह सूक्ति ही तेलुगु के परम्परावादी विद्वानों की आदर्शवाक्य थी । वे औचित्य के प्रति तो अत्यंत सजग थे किन्तु कथानक, जन साधारण की सामायिक एवं अन्य परिस्थितियों तथा यथार्थ चित्रण की ओर ध्यान नहीं देते थे । उनकी दृष्टि मे वही साहित्य श्रेष्ठ था जो प्राचीन लक्षण ग्रंथों में स्थिर सिद्धांतों की कसौटी पर खरा उतरता था और जिन

रचनाओं में इन सिद्धांतों की अवहेलना की जाती थी उन्हें वे निम्न स्तर का समझते थे। इन समीक्षकों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव था। ये लोग परम्परागत मूल्यों पर ही पूरा बल देते थे। उदाहरण के लिये स्वर्गीय वेदमवेंकटराय शास्त्री न केवल महान विद्वान और कवि थे अपितु एक महान समीक्षक भी थे। "आन्ध्र प्रसन्नराघव" पर उनके समीक्षात्मक निबंध तथा अन्य रचनायें "शरद कांची किंकिणी" के नाम से प्रकाशित हुईं। उन्होंने विवेच्य कृतियों का गहराई से अध्ययन किया है तथा भाषागत और विषयगत दोनों प्रकार की त्रुटियों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्वर्गीय काशी भट्ट ब्रह्मय्या शास्त्री और उनके भाई सुब्बय्या शास्त्री प्रसिद्ध समीक्षक थे, उन्होंने "मनु चरित्र" जैसे प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथों की भी निःसंकोच समीक्षा की है। स्वर्गीय पेण्ड्याल वेंकटसुब्रमण्य शास्त्री ने महाभारत के कुछ चरित्रों में दोष दर्शन किया है, जिसकी चर्चा उन्होंने अपने ग्रंथ "महाभारत विमर्श" में की है। श्री श्रिष्ट सूर्यनारायण शास्त्री ने "महाभारत रहस्यम" के नाम से इस पर एक प्रत्यालोचना लिखी है जिसमें उन्होंने व्यास का समर्थन करने का प्रयास किया है। श्री वारणासी सुब्रमण्य शास्त्री ने, जो कि तेलुगु प्रदेश के श्रेष्ठ विद्वानों में से हैं, "संस्कृत महाभारत" के प्रसंगों के औचित्य एवं सौंदर्य की व्याख्या करते हुए पुस्तकें लिखी हैं। इन ग्रंथों में उन्होंने ऐसे समीक्षकोंको समुचित उत्तर दिया है जो पाश्चात्य दृष्टिकोण से महाभारत की आलोचना करते हैं। डा० जी०वी० सुब्रमण्यम ने प्रसिद्ध "तिरुपति वेंकटकवुलु" की कृतियों का मूल्यांकन किया है तथा वीर रस पर एक सर्वांगीण शोध - प्रबंध लिखा है।

तेलुगु साहित्य में नाटकों का विकास आधुनिक काल में ही हुआ। आदिकाल में भी ये हुआ करते थे किन्तु गद्य नाटकों में सामाजिक यथार्थपरक नाटक इसी काल में आरंभ हुए जो तेलुगु आलोचना के सत्व को निरूपित करने के लिए बड़े प्रेरणादायक बने। इसीलिए इसकाल में तेलुगु आलोचना का अपना सत्व स्थापित करने हेतु सन् 1960 में श्री पोणंगि श्रीराम अप्पाराव कृत तेलुगु नाटकमु, अवतरणमु, विकासमु" नामक एक मौलिक शोध प्रबंध प्रकाशित हुआ।

इसमें नाटक का उद्भव, नृत्यनाटक, नाट्य स्वरूप आदि का विवरण दिया गया है । श्री अप्पाराव जी ने इस ग्रंथ में प्राचीन व पाश्चात्य रूपकों के बारे में : संस्कृत, आन्ध्र व आंग्ल के यवन रूपों के बारे में समीक्षा की है । नन्नया से पूर्व, चालुक्य, काकतीय, रेड्डी, विजयनगर, नायक राजु के काल में संगीत नृत्य नाटकों के विकास के बारे में चर्चा भी की गई है । दृश्य, विनोद और वृत्तान्तों के बारे भी इसमें लिखा गया है । इसमें तेलुगु नाटकों की मौलिकता के बारे में, तेलुगु नाटकों के क्रमिक विकास के बारे में आलोचनात्मक समीक्षा की गयी है । यह शोध ग्रंथ तेलगु नाटकों के उद्भव और विकास का आलोचनात्मक ग्रंथ माना जाता है ।

सन् 1949 में श्री शिष्टा रामकृष्ण शास्त्री ने "नाटक विमर्शन" नामक ग्रंथ लिखा, उसमें उन्होंने प्राचीन व पाश्चात्य नाटकों के संप्रदायों का विवेचन किया और उनका विभाजन भी किया । संस्कृत के भाष्य आचार्य का "स्वप्न वासवदत्तम्", भट्ट नारायण का "वेणिसंहारम्", विशाखदत्त का "मुद्रा राक्षस" नाटकों का प्राचीन व पाश्चात्य नाटक की आलोचना पद्धति के अनुसार श्री शास्त्री जी ने समीक्षा की । इसके अंतर्गत ही उन्होंने नाटक कार का जीवनकाल, कथा वस्तु का मूल (नाटक की मूल कथा) मूल कथा में किये गये परिवर्तन, उनके प्रयोजन, पात्र पोषण आदि अनेक अंशों पर आलोचना की ।

आन्ध्र नाटक रंग के विविध नाटककारों के और कलाकारों के इतिहासों से सम्बन्धित "आन्ध्र नाटक कला" नामक ग्रंथ की रचना श्री शास्त्री जी नेही की । इसके अंतर्गत इन्होंने संस्कृत व अंग्रेजी नाटक के सिद्धांतों का तेलुगु नाटकों पर कहाँ तक प्रभाव रहा, इसका विवेचन कर, संस्कृत व अंग्रेजी नाटक के ऐतिहासिक परिस्थितियों की भी चर्चा की । आन्ध्र नाटक के उद्भव, विकास और आरम्भिक काल के बारे में भी इसमें लिखा गया है । अनूदित तेलुगु नाटक,

सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों के बारे में शास्त्री जी ने अपनी मौलिक मान्यताएं स्थापित की । अलग - अलग स्थानों पर नाटक संस्थानों के विकास को बतलाते हुए क्रमानुगत तेलुगु नाटक कला किस तरह क्षीण दशा को पहुंची, इसके भी कारण इन्होंने स्पष्ट किये । चलचित्र कला के कारण तेलुगु का नाटक क्षेत्र कहां तक प्रभावित हुआ है, इसके बारे में चर्चा करते हुए सिनेमा कला व नाटक कला के भेद भी ये बतलाये गये हैं ।

इसी प्रकार तेलुगु नाट्य चिंतन, आधुनिक युग में आकर अपना मौलिक स्वरूप प्राप्त करता है । इसमें पानुगंटि लक्ष्मी नरसिंह राव के "साक्षी" नामक संकलन का उल्लेखनीय स्थान है । पानुगंटि ने कई ऐसी स्थापनाएं की जो उनकी मौलिकता को प्रमाणित करती है । जैसे "विषादांत नाटकमुलु" {त्रासदी} "नाटक में काव्य का स्थान" "कठपुतली का तमाशा" आदि । इसी के अनुकरण में "वदरबोधु" नाम से प्रकाशित निबंध संग्रह में अनंतपूर जिले के युवा समीक्षकों ने आधुनिक मौलिक स्थापनाएं की है । उपन्यास का विकास तेलुगु में भी आधुनिक युगकी ही देन है, स्वभाविक है किउपन्यास विषय समीक्षाएं भी आधुनिक युग में ही लिखी जाती । सन् 1962 में श्री बी·वी·कुटुम्ब राव कृत शोध ग्रंथ "आन्ध्र नवला साहित्य परिणामम्" तेलुगु में आलोचना के क्षेत्र में उपन्यासों में प्रथम आलोचना ग्रंथ है । इसमें कुटुम्ब राव जी ने संस्कृतांध्र के उपन्यासों की आरंभिक दशा के बारे में चर्चा करते हुए पाश्चात्य भाषाओं में उपन्यासों के विकास को बतलाते हुए सन 1920 से 1947 तक तेलुगु में उपन्यास रचना किस प्रकार परिवर्तित हुई है, उसके बारे में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं, तदुपरांत सन् 1947 के बाद उपन्यास वाङ्मय के स्वरूप का विश्लेषण किया है । सन् 1953 से सन 1957 तक प्रकाशित उपन्यासों के प्रकार और उपन्यास रचना में हुई प्रगति का विवेचन किया है । इस शोध ग्रंथ के अंतर्गत

राजनैतिक, सामाजिक, शील प्रधान, वास्तविक, संघर्षात्मक, वर्णनात्मक, हास्य प्रधान, चलचित्र संबंधित, लैंगिक आदि शोधात्मक उपन्यासों के स्वरूप का भी निर्धारण किया गया है । तेलुगु उपन्यास साहित्य अपने आप में आधुनिक तेलुगु आलोचना का सत्व है । इसी प्रकार तेलुगु में कई उपन्यासकारों ने उपन्यास साहित्य में अपनी मौलिक स्थापनाएं की हैं और तेलुगु आलोचना का विकास किया है । तेलुगु उपन्यास साहित्य ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद, व्यक्तिवाद से प्रभावित होते हुए भी अपने आलोचना के सत्व को निरूपित किया है । उदाहरण के लिये सन् 1946 में बुच्चिबाबू का उपन्यास, "चिवरिकिमिगिलेदि" में कथा - नायक दयानिधि का व्यक्तित्व विचार, अनुभव सार्त्र के अस्तित्ववाद के अधिक निकट है लेकिन इसमें फ्रायड, रसेल, सोमर, साइटमैन का प्रभाव भी काफी हद तक रहा । अत: यह उपन्यास पूर्णत: अस्तित्ववाद से प्रभावित नहीं माना जाता है । आधुनिक तेलुगु साहित्य में कई ऐसे उपन्यास विषयक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे गये हैं जिनमें संस्कृत काव्यशास्त्र व पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का समन्वय करते हुए तेलुगु के आलोचकों ने अपने मत प्रकट किये हैं ।

तेलुगु आलोचना की मौलिकता का तीसरा आयाम है अंतर्विद्यावर्ती आलोचना के रूप में विकास । हिंदी के समान तेलुगु आलोचना भी क्रमश: मनोविज्ञान, इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, भाषा विज्ञान आदि से जुड़कर ही विकसित हो रही है । इस विकास का प्रमुख क्षेत्र है विश्वविद्यालयों में किया जाने वाला अनुसंधान । यहां यह ध्यातव्य है कि विश्वविद्यालयों में होने वाले अनुसंधान को तेलुगु आलोचना के अपरिहार्य अंग के रूप में स्थान दिया गया है तेलुगु समालोचना के विकास में लोक कलाओं और विधाओं को लेकर किया गया चिंतन भी महत्वपूर्ण है । जिसके अंतर्गत यक्षगानों जैसे नाट्य परंपरा, हरिकथा और बुर्रकथा जैसी कथाकथन की लोक परंपरा व लोक कथाएं, लोक गीत और अन्य कलारूप सम्मिलित हैं ।

1· गोरि नरसिंह शास्त्रि, सारस्वत व्यासमुलु, संपुरमु·5, प्रथम विभागमु

2· "पाश्चात्त्युल्लो काल्पनिक वादुलु चेप्पिनट्लु आर्ट फार आर्ट्स सेक" अनि काकुंडा मना प्राचीनुलु चेप्पिनट्लु उपदेशमुतो कूडिना रसानंदान्नि कलिगिंचडमे साहित्य प्रयोजनमु ।" -वही- पृ· 67

3· "निमित्त भेदमुलनु बट्टि वीरमु बहुविधमुलुगा वासि चिननु, वानिकन्निन्टिकिनि मूलमैनदि धर्म वीरमु । वीरस भेदमुल कन्निन्टिकिनि रसत्वसिद्धिनि कल्पिंचुनदि धर्म वीरमु, अदिये वानि सारमु ।" रसोल्लासमु - पृ·122

4· देखिए पुस्तक तेलुगु

अध्याय - 8

उपसंहार

अध्याय - 8

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबंध का लक्ष्य है आधुनिक हिन्दी और तेलुगु साहित्य में आलोचना सिद्धांतों का विकास कहाँ तक हुआ है और इन दोनों साहित्यों की आलोचना का तत्व क्या है ? इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबंध को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है और उनसे प्राप्त निष्कर्षों का समाकलन इस प्रकार है :-

★ चूंकि मेरा विषय आलोचना से संबंधित है, इस कारण हिंदी और तेलुगु साहित्यों में आलोचना की परिभाषाएं और आलोचना के उद्भव और विकास के बारे में सामान्य विवेचन मुझे आवश्यक जान पड़ा । आधुनिक दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टिकोण से साहित्यिक कृतियों के विवेचन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन के लिए "आलोचना" शब्द का प्रचलन अधिक है । "आलोचना" शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का सूक्ष्म दृष्टि से अन्वीक्षण करना । साहित्य के संदर्भ में आलोचना का अभिप्रेत है - साहित्यिक कृति के वस्तुगत सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य एवं शैलीगत सौन्दर्य का विवेचन करना । हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग तक की आलोचना गुण - दोष प्रतिपादन की प्रवृत्ति का द्योतक

रही है । लेकिन सही अर्थ में आलोचना वह प्रवृत्ति है जिसमें ग्रंथ के गुण दोषों को पढ़ने के बाद पाठकों के मत या आलोचकों के मत प्रकट किये जाते हैं । आलोचना की दृष्टि कलाकार में जितनी सूक्ष्म होती है उसकी कृति उतनी ही सार्थक एवं प्रभाविष्णु होती है । हिंदी साहित्य में आलोचना शब्द के अर्थ में समीक्षा, समालोचना आदि शब्द प्रचलित हैं किन्तु न्यूनाधिक रूप में मात्रा अथवा प्रकृति में ये शब्द आलोचना से भिन्न हैं । साहित्यिक कृति के वस्तुगत एवं शिल्पगत सौन्दर्य का विवेचन करते हुए सिद्धांतों की स्थापना करना तथा सिद्धांतों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करने का नाम "आलोचना" है । तेलुगु साहित्य में "आलोचना" के लिए समानार्थ शब्द है "विमर्श" । संस्कृत के "समीक्षा" शब्द को भी तेलुगु में आलोचना के लिए प्रचलित रूप में प्रयोग किया जाता है । तेलुगु में "विमर्श" का अर्थ आलोचना के समान है, वह है किसी रचना अथवा कला रूप का सावधानी से निरीक्षण करना, उस पर विचार करना तथा व्यापक विचार विनिमय के बाद उनके गुण - दोषों पर मत प्रकट करना । जिस प्रकार केवल गुण - दोष निरूपण को ही हिंदी चिन्तकों ने आलोचना नहीं माना है उसी प्रकार तेलुगु साहित्य के चिन्तकों ने भी आलोचना के प्रति केवल गुण - दोषों को प्रमाण नहीं मानकर विस्तृत रूप से उसका चिंतन किया है और इस आलोचना की प्रक्रिया को लेखक और पाठक के मध्य की कड़ी माना गया है ।

यदि हिंदी और तेलुगु साहित्य में आलोचना के उद्भव और विकास के बारे में विचार किया जाए तो वास्तव में हिंदी में आलोचना का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ । आलोचना के इस उदय काल में आलोचना की पद्धति का कोई मापदंड नहीं था । "कवि वचन सुधा" में प्रकाशित "हिंदी कविता" शीर्षक लेख में हिंदी के बिल्कुल आरंभिक काल की आलोचना पद्धति का रूप मिलता है । इस काल की आलोचना का उद्देश्य "गुन गाना" दोष

दिखाना और सीख सिखाना" तक ही सीमित था । लेकिन "संयोगिता स्वयंवर" तक आते - आते यह परिस्थिति धीरे धीरे परिवर्तित होती गयी । भारतेन्दु युग रीतिकाल से प्रभावित था । इसलिए पांडित्यपूर्ण समालोचना पद्धति का प्रभाव कहीं नहीं दिखाई पड़ता है । इस काल में भारतेन्दु जी के साथ - साथ बदरीनारायण चोधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त आदि आलोचक हुए हैं । इन आलोचकों में भट्ट जी का महत्व सबसे अधिक है, वे आधुनिक ढ़ंग की आलोचना के जन्मदाता कहे जा सकते हैं । भट्ट जी कविता पर बन्धनों के विरुद्ध थे और बनावटी व कृत्रिम कविता के भी ये विरुद्ध थे । धीरे - धीरे हिंदी आलोचना का विकास सन 1897 ई० में "नागरी प्रचारिणी" पत्रिका" के प्रकाशन से इस क्षेत्र को एक नयी दिशा मिली और द्विवेदी युगीन आलोचकों की प्रारंभिक रचनाएं इसमें प्रकाशित होने लगीं । इसमें पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदर दास, आदि आलोचकों के महत्वपूर्ण अंक छपने लगे । इसी तरह आधुनिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात "सुदर्शन" (1900 ई) "सरस्वती" (1900 ई) "समालोचक" (1902 ई) आदि पत्रिकाओं के कारण हुआ । इन पत्रिकाओं के कारण द्विवेदी युग में समीक्षा के उन बिन्दुओं का स्पष्ट विकास दिखाई पड़ता है जो भारतेन्दु युग में लक्षित हुए थे । द्विवेदी जी की रचनाओं में भविष्य की हिंदी सैद्धांतिक आलोचना के कुछ ऐसे बीज अंकुरित हुए थे जिनका विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धांतिक आलोचना में उपलब्ध होता है । इस दृष्टि से हिंदी सैद्धांतिक आलोचना की पार्श्व - भूमि में आचार्य द्विवेदी जी का महत्वपूर्ण स्थान है । हिंदी में "मुक्तछंद", "नई कविता" और "गद्य काव्य" का आह्वान सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने ही किया । पंडित पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवान दीन और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र इस काल के अन्य महत्वपूर्ण समीक्षक हैं । इस प्रकार हिंदी साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास उत्कर्ष युग याने शुक्ल युग तक हुआ है जिसे हम आलोचना की चरम अवस्था कह सकते हैं ।

तेलुगु साहित्य में आलोचना का उद्‌भव आदि कवि नन्नया और अन्य कवियों द्वारा हुआ । वे संस्कृत सिद्धांतों के अपने गद्य पद्यात्मक अनुवादों में थोड़े - बहुत आलोचनात्मक विचार व्यक्त किए हैं । इसका उद्‌भव पूर्वार्द्ध युग और उत्तरार्ध युग में हुआ । इस दौरान पत्र - लेख, ग्रंथ - आमुख, टीकाएं, कवियों की जीवनियां, भाषा शास्त्र, तथा कोश ग्रंथों के रूप में तेलुगु साहित्य की समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ । मुद्रण यंत्रों की स्थापना के कारण ताड़पत्रों में जो भी साहित्य बन्द पड़ा हुआ था उसका प्रकाशन पुस्तकों के रूप में सन 1806 में प्रारंभ हुआ । सन 1835 में "सत्यदूता" नाम से तेलुगु की प्रथम पत्रिका का आरंभ हुआ । इससे पत्रिकाओं में समीक्षात्मक लेखों के प्रकाशन द्वारा तेलुगु साहित्यिक आलोचना को सहारा मिला । इस युग में श्री कावलि वेंकटरामस्वामी, श्री सी॰पी॰ब्राउन, श्रीजूलूरि अप्पय्या शास्त्री, आदि आलोचक आते हैं । यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि ब्राउन महाशय के 20 वर्ष के परिश्रम से तेलुगु साहित्यिक समीक्षा का अंकुरार्पण हुआ । सन 1875 से हम तेलुगु आलोचना का उद्‌भव काल घोषित कर सकते हैं और तेलुगु साहित्य के प्रथम तेलुगु आलोचक के रूप में श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु जी का नाम गिनाया जा सकता है । इन्होंने "विवेक वर्धनी" (1874 - 94), हास्य संजीवनी (1876) चिंतामणि (1892 - 98) आदि पत्रिकाओं का संपादन किया । पंतुलु जी के अलावा इस युग में श्री वेदम वेंकटराय शास्त्रि, श्री काशीभट्ट ब्रह्मय्या शास्त्रि , श्री गुरजाड अप्पाराव आदि आलोचक आते हैं ।

तेलुगु आलोचना का विकास सन् 1914 में श्री कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी कृत "कवित्वतत्व विचारमुलु" नामक समीक्षा ग्रंथ से माना जाता है । इन्होंने तेलुगु साहित्य समीक्षा में अपनी मान्यताएं स्थापित की हैं॰वे हैं तेलुगु के काव्य लक्षण, तेलुगु के प्रबंधों की समीक्षा । इनकी रचनाओं से प्रभावित होकर

श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जैसे अन्य आलोचक भी इस युग में हुए थे । विश्वनाथ जी नेन्नय गारि प्रसन्न कथा कलितार्थ युक्ति" नामक समीक्षात्मक ग्रंथ लिखा जो तेलुगु साहित्य में प्रथम और प्रमुख आलोचनात्मक ग्रंथ है । इनके अलावा तेलुगु के आलोचना जगत में डा० दिवाकर्ल वेंकटावधानि, श्री भूपति लक्ष्मीनारायण राव, श्री कोराड रामकृष्णय्या, श्री श्री डा० सी नारायण रेड्डी, डा० जी०वी०सुब्रह्मण्यम, डा० पी०यशोदा रेड्डी, डा० अक्किराजु रमापति राव आदि प्रमुख आलोचक हैं ।

आलोचना का उद्‌भव स्वरूप - विश्लेषण एवं विकास की प्रक्रिया पर की गई इस सैद्धान्तिक चर्चा का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि हिंदी और तेलुगु साहित्य में आधुनिक युग में ही आलोचना अपनी उत्कर्ष दशा को पहुँची है ।

**

हिंदी में भारतीय {संस्कृत} काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का विकास कैसे हुआ यह मेरे शोध का द्वितीय विचारणीय बिन्दु है । हिंदी साहित्य में भरतमुनि के रस सिद्धांत का काफी विकास हुआ है । प्रथमत: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने "रस मीमांसा" नामक आलोचनात्मक ग्रंथ में रस के बारे में अपने सैद्धांतिक विचार प्रस्तुत किए हैं । शुक्ल जी ने आलोचना का मानदण्ड भारतीय "रसवाद" को माना है । शुक्ल जी की काव्योचित स्थापनाओं में सबसे महत्वपूर्ण पक्ष "रस" का पुनराख्यान है जो अंशत: मनोविज्ञान पर और उनकी लोकमांगलिक दृष्टि पर आधारित है । मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण जहाँ वे एक ओर व्यक्तिगत मनोविकारों या मनोवेगों के रूप स्थायीभाव के विश्लेषण से रस विवेचन का आरंभ करते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने लोकमंगलवादी दर्शन के अनुरूप उसकी चरम परिणति व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में विलयन फलत: सत्कर्म प्रवृत्ति मानते हैं । "रस की निष्पत्ति"

प्रक्रिया में शुक्ल जी शास्त्रीय परंपरा से अपना वैलक्षण्य रखते हैं । रस दशा का अभिप्राय शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था से लिया है । उनके अनुसार व्यक्ति का लोकसामान्य भाव - भूमि पर जा पहुँचना ही हृदय की मुक्तावस्था है । आ॰ शुक्ल ने भरतमुनि तथा पंडित विश्वनाथ का रस निष्पत्ति सिद्धांत अपनाया है किन्तु संस्कृत आचार्यों की रस के स्वरूप और काव्य के उद्देश्य संबंधी धारणा उन्हें मान्य नहीं । वे काव्य का चरम लक्ष्य "आनंद" नहीं मानते । शुक्ल जी रस की अनुभूति को "लौकिक" मानते हैं और प्राचीन आचार्यों के रस को "अलौकिक", "ब्रह्मानंद सहोदर" आदि कहने को केवल औपचारिक विशेषण मात्र मानते हैं । शुक्ल जी के अनुसार रस - दशा में पाठक की स्थिति तीन रूपों में व्यक्त होती है --§1§ पाठक का हृदय मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है । §2§ वह पराये के भेदभाव से ऊपर उठकर काव्य के भाव में ही तन्मय हो जाता है । §3§ किसी अन्य वस्तु व्यापार की उसे अनुभूति नहीं रहती है । "साधारणीकरण" के विषय में उन्होंने यह स्थापना की है कि विभावादि का इस रूप में लाया जाना साधारणीकरण है कि जिससे विभाविद सबके हृदय में समान भाव जगा सकें और रसात्मक बोध उत्पन्न हो सके । साहित्यदर्पणाकार के प्रभाव में आकर शुक्ल जी ने यह भी माना है कि प्रमाता का आश्रय से तादात्म्य ही साधारणीकरण है । शुक्ल जी ने रस की दो कोटियाँ या श्रेणियाँ निर्धारित की हैं - उत्तम रस दशा और मध्यम रस दशा । उत्तम रस दशा वह है जहाँ ग्राहक आश्रय से तादात्म्य उत्पन्न हो सके और मध्यम रस दशा वह है जहाँ आश्रय से तादात्म्य लाभ न कर सके । शुक्ल जी के बाद आ॰ नंददुलारे वाजपेयी जी ने रस से संबंधित अपने स्वच्छंद विचार प्रस्तुत किए हैं । इन्होंने परंपरागत एवं मौलिक दो प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं । वे रस को "ब्रह्मानंद सहोदर" कहने की परम्परागत मान्यता से सहमत नहीं हैं । उनकी यह भी मान्यता है कि रस - सिद्धांत को इतना व्यापक रूप प्रदान करना चाहिए कि वह संपूर्ण हिंदी साहित्यिक समीक्षा का मूल आधार बन सके । रस को केवल वेदान्तर स्पर्श

शून्य या ब्रह्मानन्द सहोदर कहना उसे संकुचित परिधि में बांधना है । वाजपेयी जी के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ रचयिता एवं उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है । साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है - केवल किसी पात्र विशेष का नहीं । वाजपेयी जी की रस विषयक मान्यताओं से स्पष्टहोता है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं । वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही मुख्य मानते हैं और अभिव्यंजना को गौण मानते हैं । वाजपेयी जी के बाद डा० नगेन्द्र जी ने रस के संबंध में अधिक विस्तृत और मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किए हैं जिसे देखकर कुछ आलोचकों ने उन्हें भ्रमवश फ्रायडवादी आलोचक कहा है । नगेन्द्र जी की रस-वादी दृष्टि का पल्लवन उनके "रससिद्धांत नामक ग्रंथ में हुआ है । नगेन्द्र जी की रसवादी धारणा की मुख्यत: दो विशेषताएं हैं --{1} रस - सिद्धांत की व्याख्या में मनोविज्ञान को अपेक्षित महत्व प्रदान करना {2} संश्लिष्ट काव्य शास्त्र का उन्नयन । नगेन्द्र जी के बाद आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी ने रस सिद्धांत का विवेचन करते हुए "काव्य की आत्मा और रस की स्थिति" के विषय पर भारतीय काव्यशास्त्र के चिंतकों के मतों पर विचार किया है । उन्होंने काव्य की आत्मा के बारे में चर्चा की है । त्रिपाठी जी के मतानुसार जिस कवि के हृदय में रसानुरूप संघटना होगी उसी से सरस काव्य की विस्फूर्ति होगी, रसात्मक परिणति होगी । अत: सर्वत्र रस की संभावना नहीं हो सकती इस प्रकार हिंदी साहित्य में रस सिद्धांत के विकास को और अन्य कई आलोचकों ने आगे बढ़ाया है ।

संस्कृत काव्य शास्त्र का दूसरा सिद्धांत अलंकार संप्रदाय के विकास में डा० नगेन्द्र ने "रीति काव्य की भूमिका" और हिंदी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति की भूमिका में न केवल भिन्न - भिन्न अलंकारवादियों की उल्लेख्य मान्यताओं का उपस्थापन ही करते हैं अपितु उनका पारस्परिक अंतर भी स्पष्ट करते हैं ताकि विकास का पत्र स्पष्ट हो सके । उनकी दृष्टि में भामह की अपेक्षा दण्डी

स्पष्ट शब्दों में अलंकार को काव्य का शोभाकार धर्म मानते हैं । डा० नगेन्द्र के विचारों से यह दृष्टिपात होता है कि वे भी विश्वनाथ महापात्र तथा शुक्ल जी की परंपरा में रसवादी दृष्टिकोण से ही अलंकार की परिभाषा के विषय में सोचते हैं - इसलिए वे वक्रता को व्यापक और कवित्व का व्याप्त नहीं मानते । वे अलंकारवादियों की तरह यह नहीं मानते हैं कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्यपद की अधिकारिणी है । अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधारके विषय में भी डा० नगेन्द्र ने पौरस्त्य और पाश्चात्य आचार्यों के द्वारा निरूपित आधारों का ऐतिहासिक क्रम में उपस्थापन किया है । अलंकार संप्रदाय का जहां एक ओर डा० नगेन्द्र ने आख्यान किया है वहीं दूसरी ओर पुनराख्यान की दिशा में भी कुछ बातें कही हैं और अलंकार संबंधी चिंतन को गति दी है । नगेन्द्र जी के बाद आ॰नंददुलारे वाजपेयी जी के मतानुसार अलंकार काव्य के लिए आवश्यक नहीं है । उनके अनुसार कविता अपनी चरम स्थिति पर पहुंच कर अलंकार विहीन हो जाती है । वाजपेयी जी ने "सौंदर्य-परक" अर्थ को व्यापक और अभिव्यक्ति प्रणाली-परक अर्थ को सीमित अर्थ में अलंकार कहा है । आगे चलकर अन्य आलोचकों ने जैसे राममूर्तित्रिपाठी जी आदि ने अलंकार सिद्धांत का विकास किया है ।

रीति संप्रदाय का विकास हिन्दी साहित्य में डा० नगेन्द्र ने अति सूक्ष्म दृष्टि से किया है । निस्संदेह "रीति" का जितना विस्तृत व्याख्यान डा० नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, उतना न तो इनके पूर्व किसी ने प्रस्तुत किया, उतना न तो उनके पूर्व किसी ने विचार किया था । रीति - संबंधी उनका सारा विवेचन संस्कृत तथा पश्चिमी साहित्य शास्त्र और हिंदी रीति ग्रंथों के साक्ष्य पर ऐतिहासिक और दैशिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है लेकिन केन्द्र में वामन अवश्य हैं । वामन रीति को महत्व गुणवत्ता के कारण देते हैं । इस संबंध में नगेन्द्र जी का निष्कर्ष इसके विपरीत है । रीति और शैली की एक-रूपता और विरूपता की समस्या को लेकर भी डा० नगेन्द्र जी ने अपनी

मान्यताएं स्थापित की हैं । वाजपेयी जी के अनुसार रीति संप्रदाय भी अलंकार का ही एक अंग है । रीतियों की संख्या के विकास और ह्रास के कारणों पर अनुमान लगाते हुए वाजपेयी जी ने जो तर्क दिये हैं, वे उनके मौलिक चिन्तन के ज्वलंत प्रमाण हैं ।

ध्वनि - सिद्धांत पर डा० नगेन्द्र जी ने "हिंदी ध्वन्यालोक की भूमिका" तथा "रीति काव्य की भूमिका" में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं । उन्होंने "रस ध्वनि" के संदर्भ में कहा है कि शब्द की अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति ही रस ध्वनि है । ध्वनि के संबंध में शुक्लजी ने स्पष्ट किया है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका संबंध कुछ दूर का ही सही - हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा । शुक्ल जी के इस वक्तव्य में डा० नगेन्द्र जी का निष्कर्ष संगत लगता है ।वाजपेयी जी ने स्वीकार किया है कि ध्वनि सिद्धांत के मूल में अब तक नाट्य के समक्ष "रस" तत्व की मूर्धन्य स्थिति स्वीकृत नहीं । ध्वनि सिद्धांत द्वारा काव्य में रस की महत्ता और उसके आस्वादन की प्रक्रिया आदि के बारे में वे अपनी मान्यताएं स्थापित करते हैं ।

औचित्य सिद्धांत का विकास भी हिंदी साहित्य के जिन आलोचकों ने किया है उनमें नंद दुलारे वाजपेयी जी ने इसको कोई स्वतंत्र संप्रदाय नहीं माना है । उनके अनुसार इसमें तो केवल विभिन्न काव्य तत्वों की योजना है । औचित्य संबंधी उनका सारगर्भित लेख "साहित्यालोचन" में प्रकाशित हुआ है । वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि क्षेमेन्द्र अपने औचित्य का विवेचन करने के लिये व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिए हुए हैं । वाजपेयी जी के बाद अन्य हिंदी आलोचक आ॰ राममूर्ति त्रिपाठी जी, नगेन्द्र जी आदि ने औचित्य के संबंध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं ।

वक्रोक्ति संप्रदाय के विकास के अंतर्गत वक्रोक्ति मत का अभिव्यंजना वाद के संदर्भ में आ॰ रामचन्द्र शुक्ल जी ने वाग्वैचित्र्यवाद कहकर अवमूल्यन कर

दिया था, पर डा० नगेन्द्र के सुविस्तृत आख्यान और पुनराख्यान जैसे प्रयासों ने उसे न केवल वाग्वैचित्र्यवाद के गर्त से उभारा बल्कि प्रत्युत स्थान प्रतिष्ठित भी किया । वक्रोक्ति के विभिन्न पक्षों पर विचार करने के बाद नगेन्द्र जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वक्रोक्ति सिद्धांत एक व्यापक सिद्धांत है जिसमें वर्ण से लेकर प्रबंध तक, काव्य - सौन्दर्य के समस्त रूप, वक्रता के ही प्रकार हैं । इनके बाद वाजपेयी जी ने भी वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए उसके प्रभेदों की चर्चा की है । आधुनिक हिंदी साहित्य के वक्रोक्ति के मूर्धन्य आलोचक डा० विजेन्द्र नारायण सिंह ने "भारतीय काव्य समीक्षा में वक्रोक्ति सिद्धांत" नामक ग्रंथ में वक्रोक्ति का समर्थ पुनराख्यान किया है । वक्रोक्ति की व्यापकता को प्राप्त करने के लिए इन्होंने स्वभावोक्ति की रमणीयता, अतिशयोक्ति की शोभा एवं वक्रोक्ति की विचित्रता का सामंजस्य करके लोंजाइनस, क्रोचे, रिचर्ड्स और एम्पसन के चिंतन की व्याख्या करते हैं ।

***

तेलुगु साहित्य में भी हिंदी साहित्य की तरह संस्कृत काव्य शास्त्र के सिद्धांतों का विकास हुआ है । तेलुगु कवियों, विद्वानों ने इन सिद्धांतों से प्रभावित होकर उनका विकास अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है । तेलुगु साहित्य के विद्वानों ने विवेच्य कृति को परंपरागत समीक्षा के सिद्धांतों की कसौटी पर ही कसा और उन्हीं के आधार पर कृति के गुण दोषों का निरूपण किया ।

रस सिद्धांत का विकास श्री अनंतामात्य जी ने 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपनी रचना "रसाभरण" द्वारा किया । जिसमें इन्होंने विभाव, अनुभाव, रस भेद, संचारी भाव, स्थायी भाव आदि की चर्चा की । कवित्रय आदि कवि नन्नया के अनुसार भरतमुनि के रस सिद्धांत संबंधी सभी मान्यताएं काव्य में होनी चाहिए तभी वह काव्य उत्तम काव्य कहलाता है । काव्य में प्रसन्नकथा कलितार्थयुक्ति" द्वारा इन्होंने रस की स्थापना की है । कवित्रय

के द्वितीय कवि तिक्कना के अनुसार एको रस: शांत रस: है । उन्होंने रस शब्दको प्रपंचार्यमु " में स्वीकार किया । कवित्रय के तृतीय कवि एर्रना ने स्पंदन, विस्तृति, द्रवीभाव द्वारा रसानुभूति की स्थापना की है । श्रीनाथुडु, पोतना, श्रीकृष्ण देवरायलु, अष्टदिग्गज कवि आदि ने अपनी रचनाओं द्वारा रस सिद्धांत का विकास किया है । आधुनिक तेलुगु साहित्य में डा० जी०वी० सुब्रह्मण्यम जी ने प्राचीन कवियों व विद्वानों से एकदम हटकर नवीन मान्यताएं स्थापित की हैं । सुब्रह्मण्यम जी के अनुसार रसों के अंतर्गत धर्म व वीर रस महान हैं और इन्होंने रामायण व महाभारत के अंगीरस को धर्मवीर रस माना है और इसकी पुष्टि में कई तर्क प्रस्तुत किए हैं । सुब्रह्मण्यम जी ने न केवल रस सिद्धांत की व्याख्या आधुनिक संदर्भ में की है बल्कि नई स्थापनाएं भी दी हैं ।

अलंकार सिद्धांत का विकास तेलुगु साहित्य में काफी हुआ है । 11वीं शती से लेकर सन् 1875 तक का काल अलंकार सिद्धांत के विकास का उत्कर्ष काल माना जाता है । आदिकवि नन्नया ने संस्कृत से अपनी अनूदित कृति "भारतमु" में अर्थालंकारों का प्रयोग चमत्कारपूर्ण ढंग से कियाहै । तिक्कना ने "निर्वचनोत्तररामायणमु" में उपमा अलंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है । इसी प्रकार तिक्कना ने "रामायणमु" "हरिवंशमु" में अर्थालंकार और शब्दालंकारों का प्रयोग किया है । श्रीनाथुडु के द्वारा "भीमपुराणमु", "पलनाटि चरित्रमु" में शब्दालंकारों का विकास हुआ है । प्रबंध युग में अलंकारों का विकास हुआ है । कई मौलिक ग्रंथ लिखे गये हैं । श्री अनंतायामात्युडु जी ने अलंकार संबंधी मौलिक स्थापनाएं की हैं । आधुनिक काल में भी संप्रदाय का विकास हुआ है । वीरेशलिंग पंतुलु जी ने "अलंकार मंजरी" में इस संप्रदाय का विस्तृत विवेचन किया है । इसी प्रकार एस०टी०कृत्तिवास तीर्थुलु, श्री सन्निधानम सूर्यनारायण आदि ने अलंकार संबंधी अपनेमत प्रकट किए हैं ।

ध्वनि सिद्धांत के विकास के कुमानुगत में नन्नैया, तिक्कना, एर्रना, श्रीनाथुडु, पोतन्ना आदि ने आनंदवर्धन की मान्यताओं पर सहमति व्यक्त की है । नन्नया ने अपनी रचनाओं में रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि का विकास किया है । पाल्कुरिकि सोमनाथुडु ने "रगड़" के माध्यम से वस्तु ध्वनि का विकास किया । ऐसे ही पेद्दना, धूर्जटि, चेमकूर वेंकट कवि, पिंगलि सूरनादि ने अपनी कृतियों में अक्षर रम्यता के बढ़ाने के लिए ध्वनि सिद्धांत का विकास किया है ।

औचित्य के बारे में तेलुगु प्राचीन कवियों ने अपनी कृतियों के माध्यम से आचार्य क्षेमेन्द्र की मान्यताओं का विकास किया है । औचित्य के गुणों का पालन तेलुगु साहित्य की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । तिक्कना ने अपनी कृतियों के रसपोषण के लिए औचित्य पूर्ण दृष्टि अपनायी है । तेलुगु साहित्य के अन्य विद्वान जैसे गौरना, जक्कना, सूरना, अनंतामात्युडु ने औचित्य सिद्धांत का अनुसरण करते हुए रचनाएं की हैं ।

रीति संप्रदाय का विकास तेलुगु साहित्य के प्राचीन व आधुनिक काल ही में हुआ है । रीति के गुणों का निर्वाह करते हुए तेलुगु के विद्वानों ने अपनी कृतियों में माधुर्य, कोमलता, श्लेष, प्रौढि आदि गुणों का प्रयोग किया है । इसका स्वतंत्र विवेचन तो कम किया गया है लेकिन रीति के संघटक तत्वों का पालन काव्य - रचना में अवश्य किया गया है ।

वक्रोक्ति संप्रदाय के मूल सूत्र को प्राचीन कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है अर्थात वे मानते थे कि शास्त्र तथा लोक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द अर्थ की रचना से वक्रोक्ति को स्पष्ट किया जा सकता है । प्रबंध युग के कवि पेद्दन्ना, धूर्जटि आदि कवि और आधुनिक काल के कवियों ने भी इसका प्रयोग व विकास अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है । इस प्रकार संस्कृत के इन छः संप्रदायों का विकास तेलुगु साहित्य में हुआ है ।

****

हिंदी में पाश्चात्य काव्यशास्त्र से गृहीत सिद्धांतों का भी विकास हुआ है और इन सिद्धांतों ने अपना मौलिक स्वरूप भी हिंदी साहित्य में ग्रहण किया है । जैसे प्लेटो का आदर्शवाद, अरस्तू के काव्य - सिद्धांत, लोंजाइनस का औदात्य विवेचन, क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, मार्क्सवाद, मानवतावाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद आदि पाश्चात्य काव्य संप्रदायों से आधुनिक हिंदी साहित्य प्रभावित रहा और इनका बहोन्मुख विकास हुआ। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के यथार्थवादी दृष्टिकोण, सहजानुभूति, कला, शैली, सौंदर्यबोध, व्यक्तिवाद, बौद्धिकता, नैतिकता, दार्शनिकता, कलावाद आदि मान्यताओं का विकास आधुनिक हिंदी साहित्य में हुआ। आधुनिक काल में छायावाद युग में इन मान्यताओं का विकास किया गया है । अतः इस काल की कविताओं में वैयक्तिकता, सौंदर्यबोध का वर्णन, सहजानुभूति का वर्णन निहित है ।

मार्क्सवादी सिद्धांत अपने व्यावहारिक रूप में आधुनिक हिंदी आलोचना में विकसित हुआ । इसका श्रेय शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, नामवरसिंह, शिवकुमार मिश्र आदि को दिया जाता है । डा० नामवर सिंह जी ने नई कविता आन्दोलन के वस्तुगत उपकरणों के रूप में गाँव के सरल - बोध और शहर के जटिल बोध को जनवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों के रूप में पहचाना है । डा० रामविलास शर्मा जी ने पंत के काव्य में जनभीरु समाज के कटे हुए व्यक्ति की प्रतिक्रिया को मार्क्सवादी ढंग से विवेचित किया है । रामविलास शर्मा जी ने रचना और सृष्टि की आलोचना करने वाली पुनः सृष्टि और मूल्यांकन वाली चिंतन पद्धति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की खोज की है ।

आचार्य शुक्ल जी की परंपरा प्राप्त जीवन दृष्टि मीमांसक रूप में मानव चेतना के विकास को प्रोत्साहित करती है जिससे मानवतावाद का

विकास हुआ है । आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी हिंदी की मानवतावादी आलोचना के क्रम में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं । इनके अनुसार छायावाद के उपकरणों के रूप में नई कल्पना शीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसिक वृत्तियों की सूक्ष्मतर व प्रौढ़तर पकड़ आदि को माना है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जिनको नव मानवतावादी भी कहते हैं, ने जीवन के स्थायी मूल्यों का नया अर्थ और नये मूल्यों को नई भाषा देने का प्रयत्न किया । डा० नगेन्द्र जी के अनुसार जीवन की निरंतर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन मानवतावाद में ही हो सकता है ।

बिम्बवाद के अंतर्गत बिंब विधान की प्रक्रिया अर्थात बिम्ब रचना की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र जी ने उसके तीन सोपान निर्धारितकिए हैं - §1§ अनुभूति का निर्वैयक्तिकरण §2§ साधारणीकरण §3§ शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति । नगेन्द्र जी ने इस वाद का विकास किया है । आधुनिक हिंदी काव्य में प्रतीकवाद का विकास बहुत हुआ है । आ॰ शुक्ल जी ने भी छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता प्रतीकात्मकता माना है । श्री शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी प्रयोगवादियों को छद्मवेशी प्रतीकवादी बताया है । अज्ञेय जी ने इसे स्वीकार करते हुए बताया है कि प्रयोगवादियों की कविताओं में यौन - प्रतीकों की प्रचुरता है।इस प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य में 19वीं शती के उत्तरार्ध से पाश्चात्य काव्य संप्रदायों का बहुमुख विकास हुआ है ।

*****

आधुनिक तेलुगु साहित्य में पाश्चात्य काव्य सिद्धांत का विकास होने से तेलुगु साहित्य के वैशिष्ट्य को किसी भी प्रकार की हानि नहीं हुई बल्कि उसका विकास ही हुआ । पाश्चात्य प्रभाव ने ही तेलुगु साहित्य में आलोचना को नया विकास मार्ग दिखाया है । सन् 1910 से सन् 1940 तक "काल्पनिकवाद"

आधुनिक तेलुगु साहित्य "भाव कवित्वोद्यमु" §छायावाद§ नाम से चला । श्री रायप्रोलु सुब्बाराव जी, अब्बूरि रामकृष्णा राव जी, देवुलपल्लि कृष्ण-शास्त्री जी, विश्वनाथ सत्यनारायण जी इस वाद के पुवर्तक थे ।आलोचक आर॰एस॰ सुदर्शनम जी गुडिपूटि वेंकटाचलम की रचनाओं को काल्पनिकवाद से पुभावित मानते हैं ।इस वाद का विकास दो भागों में हुआ - §1§ पुराने विचारों का पुनरुत्थान §2§ राष्ट्र भावना पूर्वक रचनाओं का पुरोगमन । रायप्रोलु जी के मतानुसार यह वाद पुराने संपुदाय व नये वादों का मेल है । इस काल्पनावाद §भाववाद§ के उदय से तेलुगु की वस्तुशैली में, पद, भाव, कल्पना आदि शैलियों में मौलिक परिवर्तन हुए ।

तेलुगु में हेतुवाद का विकास 19वीं शती के पूर्वार्द्ध में श्री स्वामिनेनि मदुनरसिंह नायनि जी कृत "हित सूचनि" नामक गुंथ से आरंभ हुआ।इनके बाद वीरेशलिंगमपंतुलु जी ने अपनी मौलिक मान्यताएं स्थापित कीं । गुरजाड अप्पाराव कृत "मुत्यालसरालु" पर हेतुवाद का अत्यधिक पुभाव रहा है । इनके अतिरिक्त गोपीचंद, नार्लवेंकटेश्वर राव, सुब्रह्मण्यम शास्त्री आदि की कृतियों द्वारा तेलुगु साहित्य में हेतुवाद का विकास हुआ ।

"अभ्युदयवादमु" §मार्क्सवाद§ नाम से आधुनिक तेलुगु साहित्य में सन् 1930 में मार्क्सवाद का जन्म हुआ । यह वाद साहित्य के दृष्टिकोण से बहुत ही कृान्तिकारी ठहरा क्योंकि इसके कारण तेलुगु साहित्य ने भाव, भाषा, छन्द, कथावस्तु, शिल्प आदि में नये कदम उठाये हैं । साम्राज्यवाद का कट्टा शत्रु है अभ्युदवाद । इसका विकास श्री श्री ने किया है और अपनी मान्यताएं स्थापित की हैं । इनके अलावा श्री अल्लूरि सीतारामराजु, पट्टाभि, शिष्टला, गडिमेल्ला आदि ने इस वाद का विकास किया। अस्तित-त्ववाद आधुनिक तेलुगु साहित्य में सन्1950 - 75 तक रहा । फलस्वरूप अस्तित्ववाद के दर्शन ने तेलुगु आलोचना को काफी हद तक पुभावित किया ।

श्री आर॰एस॰सुदर्शनम् जी से इस वाद का विकास किया । इनके अलावा श्री पन्नालि सुब्रह्मण्यम भट्ट, श्री वी॰नारायण राव आदि ने अपनी कृतियों के माध्यम से इसका विकास किया ।

सन् 1970 से 1980 के बीच के काल को "विप्लव युगम्" माना जाता है । अनुभूतिवाद से आधुनिक तेलुगु साहित्य में सामाजिक, नैतिक आदि तत्वों का विकास हुआ । अनुभूतिवादियों का प्रयत्न यह रहा कि जनता को साहित्य से, साहित्य को राजनीति से और राजनीति को जनता से बचाना । तेलुगु साहित्य में मार्क्सवाद के बाद विप्लव वाद {प्रगतिवाद} का उदय हुआ जिसमें तेलुगु साहित्य में क्रान्तिकारी गीत लिखे गये । इस प्रकार आधुनिक तेलुगु साहित्य में 19वीं शती के उत्तरार्ध में कई पाश्चात्य वादों का विकास हुआ ।

******

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी आलोचना के आरंभ और विकास पर पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों का बहुत सीमा तक प्रभाव है । यह प्रभाव इतनी अधिक मात्रा में और इतनी अधिक स्पष्टता से है कि हिंदी आलोचना के संबंध में आज भी एक सामान्य धारणा बनी हुई है कि उसका अपना मौलिक रूप नहीं है अर्थात हिंदी आलोचना की अपनी कोई अस्मिता नहीं हैं और वह पूर्णत: संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धांतों की ऋणी है । इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए । अत: आधुनिक हिंदी आलोचना का सत्व जानना उचित है अर्थात भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का प्रभाव लेते हुए भी हिंदी आलोचना ने कहाँ तक अपनी निजी पहचान बनायी है । आधुनिक युग में औद्योगिकरण और वैज्ञानिक साधनों के विकास के कारण मुद्रण एवं प्रकाशन की बहुत बड़ी सुविधा भाषाओं तथा साहित्य को मिली । भारतीय भाषाओं में विशेषकर हिंदी और तेलुगु

में गद्य विधाओं का अभूतपूर्व विकास इन्हीं भौतिक सुविधाओं और वैज्ञानिक चेतना के कारण हुआ । गद्य विधाओं की इसी विकास - प्रक्रिया के अंतर्गत हिंदी आलोचना का भी विकास हुआ । स्पष्ट है कि यह विकास धीरे-धीरे अपने भारतीय तथा पाश्चात्य प्रभावों - स्रोतों से जुड़कर भी उनसे मुक्त होने के क्रम में तथा अपनी निजी अस्मिता बनाने की चेष्टा में दिखाई देता है । हिंदी आलोचना के सत्व निरूपण के लिए तीन आयामों को दृष्टिगत रखा गया है -

§1§ भारतीय एवं पाश्चात्य प्रभाव स्रोतों से जोड़कर और धीरे-धीरे अपना मौलिक व्यक्तित्व बनाने की चेष्टा ।

§2§ हिंदी गद्य विधाओं के विकास के क्रम में उनकी आलोचना का विकास ।

§3§ अंतर्विद्यावर्ती समालोचना पद्धतियों का विकास ।

हिंदी-आलोचना के आरंभ में ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे कवि - आचार्यों के महत्त प्रयासों से हिंदी आलोचना के सत्व का दिशा - निर्धारण होता दिखाई देता है । आगे चलकर इस बृहद् संकल्प को पूरी क्षमता के साथ साकार किया । आ॰रामचन्द्र शुक्ल जी ने । शुक्ल जी शास्त्रीय सिद्धांतों की खूबियों के साथ स्वच्छंदतावादी खामियों से भी परिचित थे । इन्होंने जहाँ भारतीय काव्य शास्त्र की रूढ़ियाँ तोड़ी वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के व्यक्तिवाद को भी नकारा ।

हिंदी आलोचना के सत्व को रेखांकित करने में अगला नाम आता है - श्री नंद दुलारे वाजपेयी जी का । इनकी आलोचना पद्धति समन्वयवादी मानी जाती है । इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही समीक्षा शास्त्रों के समन्वित आधार पर हिंदी आलोचना का सत्व स्थापित किया । इनके बाद डा0 नगेन्द्र जी ने रस सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसकी

परिधि में अभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद प्रभाववाद और प्रतीकवाद आदि सिद्धांतों का समावेश किया । हजारी प्रसाद द्विवेदी जी समन्वयवाद के बाद से हटकर हिंदी आलोचना को एक नैरंतर्य और उद्देश्य प्रदान किया । यह नैरंतर्य है सांस्कृतिक चेतना और उद्देश्य है मानवतावाद । हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा को स्थापित करने में तथा उसके निजी व्यक्तित्व निर्माण में डा० रामविलास शर्मा का प्रदेय रेखांकित है । रामविलास शर्मा जी का अधिकांश कृतित्व के मार्क्सवाद की सैद्धांतिक अवधारणा, भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन आदि पक्ष हैं । हिंदी आलोचना के सत्व में कुछ ऐसी गद्य विधाओं ने प्रमुख भूमिका संपन्न की जिनका सत्व पहले प्राय: नहीं के बराबर था । ये विधायें - उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रावृत्त और निबंध । इनमें उपन्यास को आधुनिक काल में महाकाव्य की स्थानापन्न विधा माना गया है । हिंदी आलोचना के सत्व निरूपण के क्रम में एक बात का ध्यान और रखा जाना चाहिए और वह है अन्य शास्त्रों या विज्ञानों के साथ का विकास करते हुए आधुनिक हिंदी आलोचना ने अपना सत्व स्थापित किया ।

****

तेलुगु आलोचना के सत्व निरूपण का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि हिंदी आलोचना का, कारण यह कि हिंदी और तेलुगु दोनों साहित्यों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण, गद्य विधाओं का विकास आधुनिक काल में ही आकर हुआ , इसी के अंतर्गत समालोचना का भी विकास हुआ है । इसीलिए तेलुगु आलोचना के सत्व निरूपण का प्रश्न भी महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक है । तेलुगु के संदर्भ में भी हिंदी के समान ही आलोचना के सत्व निरूपण के लिए उन्हीं तीन आधारों को अपनाया गया है ।

तेलुगु आलोचना संस्कृत के काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों के अनुवाद और अनुकरण के क्रम में विकसित हुई । प्राचीन काल से लेकर आज तक रचनाकारों ने रचना के साथ - साथ रचना के मापदंडों अर्थात् आलोचना के सत्व पर भी ध्यान दिया । हिंदी की तरह तेलुगु में भी कुछ नये काव्यांदोलनों ने रचना के साथ साथ आलोचना के मानदंडों में भी अभूतपूर्व विकास किया, इनमें प्रमुख हैं - भाव कवित्वमु, {छायावाद}, अभ्युदय कवित्वमु {मार्क्सवाद} वचन कविता {मुक्त छंद} तथा विप्लव कवित्वमु {प्रगतिवाद} । इन आंदोलनों के पक्ष और विपक्ष में लिखे गये निबंधों के कारण तेलुगु समालोचना का सत्व निरूपण होता चला गया ।

प्रस्तुत निष्कर्षों के आलोक में कहा जा सकता है कि हिंदी और तेलुगु में आधुनिकता का प्रवेश और उसके लिए उत्तरदायी भौतिक एवं चेतनागत परिवर्तनों के एक साथ घटित होने के कारण समालोचना का विकास समानांतर क्रम में दिखायी देता है । भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र से सिद्धांत लेकर ही हिंदी और तेलुगु आलोचना ने अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास किया । हिंदी और तेलुगु में क्षेत्रीय और सांस्कृतिक भिन्नता के कारण यह अवश्य कहा जा सकता है कि तेलुगु काव्य रचना और आलोचना में आज भी पारंपरिकता से जुड़ाव अधिक है, जबकि हिंदी साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन अधिक तेज़ी से और सघन रूप में घटित हुए हैं ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

§अ§ हिन्दी ग्रंथ

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
1.	नयी समीक्षा के प्रतिमान	डा० निर्मला जैन§संपादक§	1977§प्र§	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, §के. एल. मलिक एंड संस प्रा. लि. 23, दरियागंज, नईदिल्ली-2
2.	साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद	कुंवरपाल सिंह §संपादक§	1985 §प्र.§	पीपुल्स लिटरेसी 517, मटिया महल, दिल्ली-110006
3.	प्लेटो के काव्य-सिद्धांत	डा० निर्मला जैन §अनुवाद§	1965 §प्र§ जून	नेशनल पब्लिशिंग हाउस चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली-7
4.	पाश्चात्य समीक्षा की रूपरेखा	प्रताप नारायण टंडन	1970 §द्वि§	राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
5.	हिन्दी समीक्षा में रस-सिद्धान्त	डा० नीरजा टंडन	1982 प्रथम	ग्रंथायन, सर्वोदयनगर, सासनी गेट, अलीगढ़-202001
6.	भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त	डा० मक्खनलाल शर्मा	1979 §प्र.§	प्रेमशील प्रकाशन दिल्ली
7.	भारतीय काव्य केसिद्धान्त-रस	डा० कृष्णदेव झारी	1980 §प्र.§	शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली-2
8.	भारतीय काव्यशास्त्र	डा० सत्यदेव चौधरी	1974 §प्र.§	अलंकार प्रकाशन, दिल्ली - 110051
9.	पौरस्त्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त	डा० रामदत्त शर्मा	1973	देवनागर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-3

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशन
10.	समीक्षा-शास्त्र	डा० कृष्णलाल हंस	1975 (प्र.)	ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर-208012
11.	आलोचना इतिहास एवं सिद्धान्त	डा० हरीशचन्द्र जायसवाल	1977 (प्र.)	वीना प्रकाशन, 2, बाई का बाग, इलाहाबाद
12.	भारतीय समीक्षा और आचार्य शुक्ल की काव्य दृष्टि	डा० नगेन्द्र		
13.	भारतीय काव्य सिद्धान्त : रस	कृष्ण देव झारी		
14.	आलोचना - इतिहास एवं सिद्धान्त	डा० हरीशचन्द्र जायसवाल	1977	वीना प्रकाशन, इलाहाबाद
15.	आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में पाश्चात्य प्रभाव	डा० रामकिशन सैनी		
16.	आधुनिक हिन्दी कविता पर अंग्रेजी का प्रभाव	सुरेशचन्द्र पाण्डेय	1975	गोरखपुर
17.	हिन्दी छायावादी कवियों पर अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों का प्रभाव	फूल बिहारी शर्मा	1964	अलीगढ़

क्र. सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
18.	आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी का प्रभाव	रवीन्द्र सहाय वर्मा	1953	इलाहाबाद
19.	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन और पाश्चात्य साहित्य सेउसकी तुलना	एस. एन. गणेशन	1958	
20.	हिन्दी कथा-साहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव (1885से1936 तक)	उषा सक्सेना	1958	इलाहाबाद
21.	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य उपन्यास का प्रभाव	भारतभूषण अग्रवाल	1968	दिल्ली
22.	अंग्रेजी नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव	धर्मकिशोर लाल	1951	इलाहाबाद
23.	आधुनिक हिन्दी नाटकों पर अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव	उपेन्द्रनारायण सिंह	1967	पटना

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
24.	हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	श्रीपति वर्मा	1958	
25.	प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य और पाश्चात्य प्रभाव	संपूर्णानन्द	1965	
26.	हिन्दी नाटकों और उपन्यासों पर पाश्चात्य (आंग्ल, रूसी तथा फ्रांसीसी) प्रभाव	विश्वनाथ मिश्र	1958	लखनऊ
27.	पाश्चात्य एकांकी का हिन्दी एकांकी पर प्रभाव : शिल्प विधान के संदर्भ में	सुरेशचन्द्र वाजपेयी	1971	पंजाब
28.	अंग्रेजी निबन्धों का हिन्दी निबन्धों पर प्रभाव	रजनीकांत लाहड़ी	1963	आगरा
29.	आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव	रामचन्द्र प्रसाद	1967	पटना
30.	हिन्दी और तेलुगु समालोचना : तुलनात्मक बोध और मूल्य	एस. कृष्णबाबू एस. वी. माधवराव	1977	आन्ध्र विश्वविद्यालय

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
31.	आलोचनांजलि	पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी	1928	इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग
32.	समालोचना - समुच्चय	- वही -	1930	रामनारायण लाल, पब्लिशर और बुकसेलर, इलाहाबाद
33.	विचार-विमर्श	- वही -	1931	इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग
34.	चिन्तामणि (पहला भाग)	आ. रामचन्द्र शुक्ल	1950	- वही -
35.	चिन्तामणि (द्वितीय भाग)	- वही -	सं. 2023 वि.	सरस्वती मंदिर, काशी
36.	रस-मीमांसा	- वही -	सं. 2023 वि. (चतुर्थ संस्करण)	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
37.	रस-सिद्धांत	डा० नगेन्द्र	प्र.सं. 9	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
38.	नयी समीक्षा : नये संदर्भ	- वही -	1970 प्र.सं.	- वही -
39.	विचार और वितर्क	हजारी प्रसाद द्विवेदी	2002 वि.	सुषमा साहित्य मंदिर, जवाहर गंज, जबलपुर
40.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	- वही -	1966	राजकमल प्रकाशन प्र. लि. दरियागंज, दिल्ली-6
41.	आ. रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	- वही -		- वही -

क्र. सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
42.	शुक्लोत्तर समीक्षा (शुक्लोत्तर समीक्षा : सांस्कृतिक अध्यालोचन शीर्षक निबन्ध)	डा० रघुवंश	1978	सं. डा० वासुदेवनन्दन प्रसाद, अनुपम प्रकाशन पटना-4
43.	इतिहास और आलोचना	डा० नामवर सिंह	1962	नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद
44.	हिन्दी आलोचना का विकास	नन्दकिशोर नवल	1981 प्र. सं.	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
45.	(आलोचना साहित्य) भारतीय साहित्य दर्शन	डा० कृष्णलाल हंस	1973 प्र. सं.	ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर-12
46.	भारतीय काव्य-सिद्धांत : रस	डा० कृष्णदेव झारी		शारदा प्रकाशन नई दिल्ली 110002
47.	तीसरा यथार्थ	शंभुनाथ		
48.	नयी समालोचना : इतिवृत्त एवं उद्भावनाएं	डा० बैजनाथ सिंह	1980	"साहित्यानुशीलन" — शोध पत्रिका आधुनिक हिन्दी साहित्य विशेषांक (हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक)
49.	हिन्दी आलोचना - एक नयी दृष्टि (शुक्ल युग तक)	डा० रमेशचन्द्र लावानिया	1985	नीरज बुक सेंटर, दिल्ली

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
50.	हिन्दी समीक्षा	डा० रामदरस मिश्र		
51.	पाश्चात्य रस-सिद्धांत : सामान्य परिचय §रस-सिद्धांत का पुनर्विवेचन§	डा० गणपतिचन्द्र गुप्त	1971 §प्र.सं.§	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6
52.	हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य साहित्यिक अवधारणाओं का प्रभाव	सत्यदेव मिश्र		
53.	काव्य शास्त्र : युग और प्रवृत्तियां	कैलाशनारायण अवस्थी		अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर
54.	भारतीय समीक्षा और आ. शुक्ल की काव्य दृष्टि	डा० नगेन्द्र	1985	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,
55.	आलोचनांजलि	पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी	1928	इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग
56.	विचार-विमर्श	- वही -	1931	- वही -
57.	रसज्ञ-रंजन	- वही -	1939 §चं. संस्करण§	साहित्य रत्न भण्डार आगरा
58.	हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	नंद दुलारे वाजपेयी	1970	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद

क्र. सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
59.	विचार और अनुभूति	डा० नगेन्द्र	दूसरा संस्करण	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
60.	नई समीक्षा नए संदर्भ	- वही -	1970 प्र. संस्करण	- वही
61.	प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें	डा० रामविलास शर्मा	1954 प्र. संस्करण	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा
62.	साहित्य: स्थायी मूल्य और मूल्यांकन	डा० रामविलास शर्मा	1968 प्र. संस्करण	अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
63.	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना	डा० रामविलास शर्मा	1973 प्र. संस्करण	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली
64.	इतिहास और आलोचना	डा० नामवर सिंह	1962	नयासाहित्य प्रकाशन इलाहाबाद
65.	शुक्लोत्तर समीति {शुक्लोत्तर समीति: सांस्कृतिक मल्यालोचन शीर्षक निबंध}	डा० रघुवंश संपादक - डा० वासुदेवनंदन प्रसाद	1978 प्र. संस्करण	अनुपम प्रकाशन, पटना
66.	हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ	सम्पादक : रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, सुरेशचन्द्र गुप्त	1981	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	संस्करण	प्रकाशक
67.	हिन्दी आलोचना : पहचान और परख	इन्द्रनाथ मदान		लिपि प्रकाशन दिल्ली
68.	मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र की भूमिका	रोहिताश्व	1991	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, नईदिल्ली
69.	पाश्चात्य काव्य शास्त्र मीमांसा	प्रो० कृष्ण मोहन अग्रवाल	1989	रीगल बुक डिपो दिल्ली
70.	पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य शास्त्र	प्रो० ओमप्रकाश तरूण और प्रो० कृष्ण मोहन अग्रवाल	1976	–
71.	भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्त	डा० कृष्णदेव शर्मा	1989	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा

(आ.) तेलुगु ग्रन्थ

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशक
1.	रसोल्लासमु	डा० जी.वी. सुब्रह्मण्यम	सितंबर 1980	नवोदयम्, साहिती सांस्कृतिक संस्था हैदराबाद
2.	आन्ध्र साहित्य विमर्श - आंग्ल प्रभावमु	- वही -	जनवरी 1983	युवभारती, साहिती सांस्कृतिक संस्था, हैदराबाद
3.	आधुनिक तेलुगु साहित्यांलो विभिन्न धोरणलु	सं. के.के. रंग-नाथचार्युलु	1982	आन्ध्र सारस्वत परिषद, तिलक रोड, हैदराबाद
4.	तेलुगु साहित्य समीक्षा (प्रथम भाग व द्वितीय भाग	डा० जी. नागय्या	जून1983 और 1985	नव्य परिशोधक प्रचुरणलु, तिरुपति
5.	महति(समीक्षा व्यास संकलनमु)	सं. जीवी. सुब्रह्म-ण्यम् इरिवेंटि कृष्णमूर्ति वंगपल्लि विश्वनाथम	1972	युव भारती, साहिती सांस्कृतिक संस्था, सिकन्दराबाद
6.	आधुनिकान्ध्र कवित्वमु-संप्रदायमुलुः प्रयोगमुलु	डा० सी. नारायण रेड्डी	जुलाई 1989	विशालन्ध्र पब्लिशिंग हाउस, हैदराबाद
7.	आधुनिक कविता अभिप्राय वेदिका	सं. आचार्य तिरुमल	1981	किन्नेर पब्लिकेशन्स, हैदराबाद

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशक
8.	नेटि कालपु कवित्वमु (वाड्मय परिशिष्ट भाष्यम्)	अविकराजु उमाकांत विद्याशेखरलु	1928	वाविल्ल रामस्वामिशास्त्रुलु एण्ड सन्ज़, मद्रास
9.	साहित्य प्रयोजनम (व्यासावलि)	कोडवटिगंटि कुटुंबराव	1969	विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, विजयवाडा
10.	काव्य जगत्तु (मार्क्सिस्तु दृक्पथम)	जी.वी.कृष्णाराव	1944	सुताश्रम ग्रंथमाला, तेनालि
11.	आन्ध्र साहित्य पुनर्विकासम्	मद्दुकुरि चन्द्रशेखर राव	1958	विशालन्ध्र पब्लिशिंग हाउस, विजयवाडा
12.	तेलुगु वैतालिकुलु-संपुटम - 3	सर्देशाइ तिरूमल राव	1979	आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद
13.	काव्य निदानमु (लिटरेरी क्रिटिसिज़म)	स्पनगुडि नारायण राव	1977	महानंदि पब्लिकेशन्स, गुंतकल्लु
14.	व्यंजन सूत्रमु	डा० एच.एस. ब्रह्मानंद	1981	अनंतपुरम
15.	साहितीमूर्ति कट्टमंचि	डा० बी. भास्कर चौधरी	1980	आन्ध्रशाखा, सरकारी महाविद्यालय चित्तूरू
16.	अनुशीलन(साहित्य विमर्श)	वडलि मंदेश्वर राव		विशाखपट्टणम

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशक
17.	तेलुगुलो साहित्य विमर्श	डा० पाटिबंडा माधवशर्मा	1975	आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद
18.	तेलुगु साहित्यमलो मरो चूपु	सं. के.के. रंग-नायचार्युलु	1981	आन्ध्र सारस्वत परिषद, हैदराबाद
19.	तेलुगु साहित्य विकासमु (1900-1947 के बीच)	- वही -	1979	- वही -
20.	महोदयम (जातीय पुनरूज्जीवनम लो गुरजाड स्थानम्)	के.वी. रमणारेड्डी	1969	विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, हैदराबाद
21.	श्रीश्री साहित्यम् - श्रीश्री षष्टिपूर्ति प्रचुरणलु	सं.के.वी. रमण रेड्डी	1970	श्रीश्री षष्टिपूर्ति सम्मान संघम, मद्रास
22.	वीरेशलिंगम पंतुलु - समग्र परिशीलन	अक्किराजु रमापतिराव	1972	हैदराबाद
23.	सी.पी. ब्राउन साहिती सेवा	डॉ० चल्ला राधाकृष्ण शर्मा	1975	सी. एल. एस. बुकशाप, हैदराबाद
24.	विमर्श वेदिका	अद्देपल्लि राममोहन राव	1979	प्रभाकर पब्लिकेशन्स, काकिनाड़ा
25.	श्रीश्री महाप्रस्थानम ओक परिशीलन	- वही -	—	- वही -

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशक
26.	कवित्वतत्त्व विचारमु	कट्टमंचि रामलिंगारेड्डी	1947 {चौथा संस्करण}	आन्ध्र विश्वकला परिषद, वाल्तेरू
27.	तेलुगु लो साहित्य विमर्श अवतरण विकासमुलु	डा० एस.वी. रामाराव	1974	पलिडि प्रचुरणलु हैदराबाद
28.	साहित्य शिल्प समीक्षा {लिटरेरी क्रिटिसिज़्म}	पिंगलि लक्ष्मी-कांतम	1976	माधविबुक सेंटर, हैदराबाद
29.	तेलुगु कविता : सांधिक सिद्धांतालु	मुदिगोंड वीरभद्रय्या	1980	श्री अरविंद सोसाइटी, हनुमकोंडा
30.	तेलुगु साहित्यमु पै इंग्लीषु प्रभावमु	डा० कोत्तपल्लि वीर भद्रराव	1980	सिकन्दराबाद
31.	कवित्वतत्त्व विचार विमर्शनमु	कालूरि व्यास मूर्ति	1940	वाविल्ला प्रचुरणा, मद्रास
32.	आलोचना {सारस्वत व्यासालु	इन्द्रगंटि श्रीकांत शर्मा	1981	नवोदया पब्लिशर्स, विजयवाडा
33.	आधुनिक तेलुगु विमर्श : सांप्रदायिक रीति	डॉ/ कोवेल संपत्कुमाराचार्य	1981	वरंगल
34.	ओकडु नाचन सोमन्ना	विश्वनाथ सत्यनारायण	-	-

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशक
35.	नन्नयगारि प्रसन्न कथाकलितार्थयुक्ति	विश्वनाथ सत्यनारायण	1954	विजयवाड़ा
36.	तेलुगु लो छंदो-रीतुलु	गिडुगु सीतापति	1961	विशालान्ध्र पब्लिकेशन्स
37.	अलंकारतत्व विचारमु	के. सीतारामय्या	1915	कमर्शियल मुद्राक्षर-शाला चेन्नपुरि
38.	साहि-त्यमलो दृक्पथालु	आर.एस.सुदर्शनम	1968	नवोदया पब्लिषर्स, विजयवाड़ा
39.	गोपीचंद साहित्यमु	त्रिपुरनेनि सुब्बाराव	1979	युवभारति सिकन्दराबाद
40.	समालोचनम (आधुनिकान्ध्र साहित्य प्रक्रियलपै समीक्षा)	डा0जी.वी. सुब्रह्मण्यम	1980	आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद

﴾ ङ. ﴿ हिन्दी पत्रिकायें

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशक
1.	हिन्दी परवर्ती आलोचना डा० रघुवंश प्रो० नलिन विलोचन शर्मा	नंद किशोर नवल	1978 जुलाई-सितंबर अक्तूबर-नवंबर	"आलोचना" पत्रिका त्रैमासिक
2.	मार्क्सवादी आलोचना की समस्यायें ﴾हिन्दी आलोचना के संदर्भ में﴿	शिव कुमार मिश्र	1984-85 जुलाई-सितंबर	"आलोचना" त्रैमासिक पत्रिका पृष्ठ:37 सम्पादक : नामवर सिंह
3.	शुक्लोत्तर आलोचना एक विश्लेषण	नित्यानंद तिवारी	1968-69 अक्तूबर-दिसंबर	"आलोचना" त्रैमासिक पत्रिका पृष्ठ:41 सम्पादक : नामवर सिंह
4.	भारतीय काव्य शास्त्र की नई व्याख्या	राममूर्ति त्रिपाठी	1968-69 जुलाई-सितंबर	- वही -
5.	भारतीय काव्य शास्त्र की मार्क्सवाद	खगेन्द्र ठाकुर	1984 जुलाई-सितंबर	"आलोचना" त्रैमासिक पत्रिका पृष्ठ:52 सम्पादक : नामवर सिंह
6.	उपन्यास रहस्य	पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी	1922 अक्तूबर	सरस्वती सं. महावीर प्रसाद द्विवेदी

§ ई. § तेलुगु पत्रिकाएँ

1.	विमर्शिनी §परिशोध पत्रिका§	काकतीय विश्वविद्यालय, वरंगल
2.	सृजना – आधुनिक साहित्य वेदिका	त्रैमासिक पत्रिका, साहिती मित्रुलु, वरंगल
3.	स्रवंति §साहित्य मासिक पत्रिका§	रजत जयंति संचिका, फरवरी1981, हैदराबाद
4.	अभ्युदय – ई शताब्दि नवल – विशेष संचिका	जनवरी 1980, अरसं §अभ्युदय रचयितल संघमु§
5.	भारति §पूर्णोत्सव संचिका§	साहित्य विमर्श – मल्लपुरि कोदंडरामि रेड्डी
6.	भावना – ए कलेक्शन ऑफ कोटेशान्स	1974, युवभारती प्रकाशम

———:x:———